तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं
गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥

—कठोपनिषद्

कबीर सुपिनें रैन के पारस जिय मैं छेक ।
जौ सोऊ तो दुइ जना जौ जागू तो एक ॥

—कबीर ग्रन्थावली

आमुख

भारतीय दर्शन और साधना सम्बन्धी वाङ्मय अति प्राचीन है। वेद उपनिषद गीता, सांख्य और योग के रूप में हमारी पारमार्थिक चिन्ताधारा नाना प्रकार से अभिव्यक्त होती रही है। वैदिक-साहित्य से लेकर मध्ययुग के धर्म सम्प्रदायों में भारतीय तत्त्वचिन्तन और तत्सम्बन्धी साधनाओं की प्रचुरता द्रष्टव्य है। संसार के इतिहास में कदाचित् ही कोई अन्य जाति होगी जिसने परमार्थ चिन्तन की महत्ता में इतनी विशिष्ट रुचि दिखाई हो और विषय की अनेक प्रकार से निगूढ़ अभिव्यक्ति की हो। भारतीय दर्शन एवं साधना की यह विशिष्टता अध्येता को सहसा आकृष्ट कर लेती है।

दर्शन और साधना के इस महोदधि में आस्तिक और नास्तिक पारमार्थिक और भौतिक सभी प्रकार की धाराएं आकर मिली हैं। इस अद्भुत मिलन ने तत्त्व-दर्शन की प्रचेष्टा को और भी प्रखर कर दिया है। यही प्रखरता विशेषरूप से आस्तिक्य दर्शन के क्षेत्र में दिव्य और अलौकिक सी दृष्टिगत होती है। इसी आधार पर आस्तिक दर्शन विभूतिसम्पन्न होकर प्रबल मानव शक्ति का स्रोत बन गया है।

उपनिषद् गीता सांख्य योग इत्यादि भारतीय साधना के उत्कृष्ट अंग हैं। सुप्रसिद्ध भारतीय दर्शन के रूप में ये समादृत हैं। उपनिषदों की गणना संसार के श्रेष्ठतम् दार्शनिक साहित्य में की जाती है। उपनिषदों ने भारतीय एवं अभारतीय सभी प्रकार के चिन्तकों को प्रचुर प्रभावित किया है। दर्शन-शास्त्र के समस्त मूलभूत विषयों का उपनिषदों में व्यापक रूप में प्रतिपादन किया गया है। ब्रह्म जीव जगत्, माया सृष्टिक्रम जीवन्मुक्ति, मन ज्ञान कर्म ध्यान भक्ति इत्यादि की सम्यक् प्रतीति उपनिषदों में हुई है। योग-साधना का सामान्य किन्तु स्पष्ट विवेचन भी उपनिषदों में उपलब्ध है। योग उपनिषदों में जिस योग विद्या का व्यापक प्रतिपादन है उसका प्रारम्भिक रूप प्राचीन उपनिषदों में उपलब्ध है। इस दृष्टि से बृहदारण्यक छान्दोग्य श्वेताश्वतर और कठोपनिषद् दृष्टव्य हैं। गीता भी दर्शन और साधना के समन्वय की महत्त्वपूर्ण निधि है। इसका अमिट प्रभाव भारतीय चिन्ताधारा पर पड़ा है और विद्वान तथा सामान्य सभी कोटि के व्यक्ति इससे प्रभावित हुए हैं। दर्शन के ब्रह्म, जीव जगत् माया मुक्ति, ज्ञान कर्म भक्ति, अवतार इत्यादि प्रसंगों के साथ इसमें साधना की विशिष्टता पर भी बल दिया गया है। 'गीता' के छठे अध्याय में योगसाधना का प्रतिपादन किया गया है और इसको परमार्थ प्राप्ति का महत्त्वपूर्ण साधन कहा गया है। सर्वोपनिषत् का सार यह सर्वश्रेष्ठ एवं प्रामाणिक ग्रन्थ है। सांख्य दर्शन भी

नाथ साधक के विचारों का यथास्थान तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया गया है।

पंचम परिच्छेद पातंजल योगशास्त्र का प्रतिपादन करता है। इसमें पातंजल योग दर्शन के चार पादों की योग सम्बन्धी मुख्य सामग्री संक्षेप में वर्णित है। इस परिच्छेद का कार्य भी मूल ग्रन्थ के आधार पर सम्पन्न हुआ है।

षष्ठम् परिच्छेद में नाथ-सम्प्रदाय की साधना का परिचय प्रस्तुत किया गया है। इस सम्बन्ध में नाथ-सम्प्रदाय की ज्ञात और अज्ञात सामग्री का प्रयोग करके नाथमत की साधना का प्रामाणिक स्वरूप अंकित करने की चेष्टा की गई है। इस परिच्छेद के निर्माण में भी मूल ग्रन्थों को प्राथमिकता प्रदान की गई है तथा संस्कृत एवं भाषा दोनों प्रकार की रचनाओं में सामञ्जस्य बिठाने का प्रयत्न भी किया गया है।

सप्तम् और अन्तिम परिच्छेद में निर्गुण-सम्प्रदाय के दार्शनिक विचारों का अध्ययन किया गया है। इसके निमित्त कबीर-साहित्य को मूलाधार ग्रहण करके कुछ अन्य सुप्रसिद्ध सन्तों की बानियों का उपयोग किया गया है। इस बात की निरन्तर चेष्टा की गयी है कि प्रत्येक कथन प्रामाणिक हो और विषय को अधिक से अधिक स्पष्ट करता हो। नाथ-सम्प्रदाय और निर्गुण-सम्प्रदाय की साधना की यथोचित तुलना की ओर भी ध्यान दिया गया है।

आज से लगभग पाँच वर्ष पूर्व जब मैं निर्गुण भक्ति-काव्य के सम्बन्ध में अपना शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत कर रहा था उस समय परम्परागत दार्शनिक विचारों का कोई ऐसा संकलन उपलब्ध नहीं था जिसमें सरल स्पष्ट और प्रामाणिक विवेचन किया गया हो। इससे प्रमुख दार्शनिक विचारों का विकासात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन-कार्य कठिन हो गया था। उसी समय यह विचार उठा कि क्यों न मूल दार्शनिक ग्रन्थों का अध्ययन करके इस ओर प्रयत्न किया जाए। 'साधना और साहित्य' इसी विचार की परिणति है। इस कार्य में किस सीमा तक सफलता मिली है और यह पृष्ठभूमि के रूप में मध्ययुग की साधनाओं के अध्ययन में कितना सहायक हो सका है इसका निर्णय अधिकारी विद्वानों के हाथ है।

इस ग्रन्थ की रचना में मुझे अनेक विद्वानों से परामर्श करने और उनके ग्रन्थों से लाभ उठाने का अवसर प्राप्त हुआ है। इन सब के प्रति मैं आभार प्रकट करता हूँ। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी पंडित परशुराम चतुर्वेदी डा० रामकुमार वर्मा श्री बलदेव उपाध्याय डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित प्रभृति विद्वानों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना मेरा कर्तव्य हो जाता है।

इस ग्रन्थ के सृजन की प्रेरणा साधना और साहित्य के मर्मी विद्वान पं० कृष्णशंकर जी शुक्ल हिन्दू कालेज (दिल्ली विश्वविद्यालय) के द्वारा प्राप्त हुई। उनके प्रति लेखक हार्दिक आभार व्यक्त करता है।

साधना और साहित्य सम्बन्धी विषय का बोध कराना दुरूह कार्य है। संभव है कि लेखक से इस सम्बन्ध में त्रुटियाँ हो गई हों और कुछ कमियाँ रह गई हों। विद्वान पाठक यदि इनकी ओर ध्यान आकृष्ट करेंगे तो अगले संस्करण में इनका परिहार कर दिया जायगा।

विजयदशमी १९६१
आर० आर० डिग्री कालेज
अमेठी (सुल्तानपुर)

हरस्वरूप माथुर

विषय-सूची

साधना और साहित्य

साधना और साहित्य

प्राचीनता

भारतीय दर्शन साधना और तत्सम्बन्धी साहित्य का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। वैदिक साहित्य के नितान्त प्राचीन होने के विषय में दो मत नहीं हैं। भारतवर्ष में साधना सम्बन्धी सबसे प्राचीन तथा लिखित प्रमाण वेद हैं। वेदों के काल-विषय में इतने विभिन्न मत हैं कि उनका समन्वय करना असम्भव है। तथापि विद्वानों ने इस क्षेत्र में अनुसंधान किया है और उनका यह मत है कि वेदों का समय आज से दस सहस्र वर्ष पूर्व माना जा सकता है।[1] इससे भारतीय दर्शन और साधना विषयक साहित्य की प्राचीनता का अनुमान किया जा सकता है।

वैदिक संहिता

वैदिक साहित्य के अन्तर्गत संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् इत्यादि की गणना है। संहिता-साहित्य में 'ऋक् संहिता', 'यजु संहिता', 'साम संहिता' तथा 'अथर्व संहिता' है। इनमें मंत्रों का समूह है। यज्ञ के अनुष्ठान को ध्यान में रख कर भिन्न-भिन्न ऋत्विजों के उपयोग के लिए इन मंत्र संहिताओं का संकलन किया गया है।[2] इन चारों में ऋग्वेद का गौरव अधिक माना जाता है। यजुर्वेद के शुक्ल और कृष्ण भेद हैं। शुक्ल यजुर्वेद में अनुष्ठानों के लिए आवश्यक मंत्रों का ही संकलन है पर कृष्ण यजुर्वेद में मंत्रों के साथ ही साथ तन्नियोजक ब्राह्मणों का भी सम्मिश्रण है।[3] वैदिक संहिताओं में साम का बड़ा महत्त्व है और साम ज्ञान वेद का सर्व ज्ञान माना गया है। अथर्ववेद परलोक के साथ ऐहिक फलदाता भी माना गया है। इस जीवन को सुखमय तथा दुःखविहीन बनाने के लिये जिन साधनों की आवश्यकता होती है उनकी प्राप्ति के निमित्त अनेक अनुष्ठानों का विधान इसमें किया गया है।[4]

---

१ वैदिक साहित्य पृ १४६।
२ वैदिक साहित्य पृ १२।
३ वैदिक साहित्य पृ १८।
४ वैदिक साहित्य, पृ २११।

ब्राह्मण

ब्राह्मण 'ब्रह्म' के व्याख्यापरक ग्रन्थों का नाम है। ब्राह्मणों में मंत्रों कर्मों तथा विनियोगों की व्याख्या है। इनकी विवेचना करने पर ज्ञात होता है कि ब्राह्मण ग्रन्थ यज्ञों की वैज्ञानिक आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक मीमांसा प्रस्तुत करने वाले महत्त्वपूर्ण कृतियां हैं। इन ग्रन्थों की संख्या भी प्रचुर थी। इनमें 'शतपथ ब्राह्मण' तो विधि विधानों की विपुल राशि प्रस्तुत करता है। इनके अन्तर्गत छोटे-छोटे आख्यान भी पाए हैं। इनमें कभी-कभी गंभीर विषयों का संकेत भी प्राप्त होता है। सृष्टि के सम्बन्ध में भी अनेक आख्यान ब्राह्मण ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। अतएव यह कहा जा सकता है कि ब्राह्मण-साहित्य वैदिक-साहित्य का महत्त्वपूर्ण अंग है। सुप्रसिद्ध ब्राह्मणों में ऐतरेय ब्राह्मण 'शांखायन ब्राह्मण' 'शतपथ ब्राह्मण' 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' 'ताण्ड्य ब्राह्मण' 'षड्विंश ब्राह्मण' 'गोपथ ब्राह्मण' इत्यादि उल्लेखनीय और महत्त्वपूर्ण हैं।

आरण्यक

आरण्यक वे ग्रन्थ हैं जिनका पाठ अरण्य में होता था।[2] इन ग्रन्थों के मनन और चिन्तन के लिए अरण्य का एकान्त और शान्त वातावरण ही उपयुक्त था। आरण्यकों में प्राण विद्या के महत्त्व का विशेष रूप से प्रतिपादन किया गया है।[3] ऐतरेय आरण्यक में इस विषय की विशिष्ट चर्चा है। 'ऐतरेय आरण्यक' के अतिरिक्त तैत्तिरीय आरण्यक तथा 'तवलकार आरण्यक' भी आरण्यक साहित्य के महत्त्वपूर्ण अंग हैं।

उपनिषद्

उपनिषद् आरण्यकों से ही सम्मिलित हैं—उन्हीं के अंग विशेष हैं। वेद के अन्तिम भाग होने के कारण तथा तात्त्विक सिद्धान्तों के प्रतिपादक होने से उपनिषद् ही वेदान्त के नाम से विख्यात हैं।[4] भारतीय तत्त्वचिन्तन के मूल स्रोत होने का गौरव उपनिषदों को ही प्राप्त है। उपनिषदों की संख्या के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है। शंकराचार्य ने जिन दस उपनिषदों पर अपना विचार व्यक्त किया है वे ही प्राचीनतम

---

१ वैदिक साहित्य पृ ५४।
२ वैदिक साहित्य पृ १८।
३ वैदिक साहित्य पृ ३९।
४ वैदिक साहित्य पृ ११८।

तथा प्रामाणिक माने जाते हैं।[1] इनके नाम (१) ईश (२) केन (३) कठ, (४) प्रश्न (५) मुण्डक (६) माण्डूक्य (७) तैत्तिरीय (८) ऐतरेय (९) छान्दोग्य तथा (१०) बृहदारण्यक हैं।[2] 'ईश' उपनिषद् में केवल अठारह पद्य हैं। इसमें ज्ञान दृष्टि से कर्म की उपासना का रहस्य बताया गया है। 'केन' भी लघुकाय उपनिषद् है किन्तु दार्शनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इसमें ब्रह्म के रहस्यमय रूप की ओर मार्मिक संकेत है। 'कठ' आत्मज्ञान प्रतिपादक प्रमुख उपनिषद् है। यम और नचिकेता की कथा से इसका आरम्भ होता है तथा निरय तत्त्व का गंभीर और स्पष्ट विवेचन करने के उपरान्त आत्म साक्षात्कार के प्रधान साधन योग का उल्लेख करते हुए इसकी समाप्ति होती है। 'प्रश्न' में अध्यात्म विषयक समस्याएं उठाई गई हैं। 'मुण्डक' में कर्मकाण्ड की हीनता तथा दोनों के वर्णन के अनन्तर ब्रह्मज्ञान के श्रेष्ठत्व का प्रतिपादन किया गया है। इसमें सांख्य के तथ्यों का भी परिलक्षित प्रभाव दृष्टिगत होता है। 'माण्डूक्य' उपनिषद् लघुकाय होते हुए भी दर्शन के अनेकानेक सिद्धान्तों का समुदाय है। इसमें ॐकार की मार्मिक व्याख्या की गई है। 'तैत्तिरीय उपनिषद्' तैत्तिरीय आरण्यक का ही अंश है।[3] उपासना सम्बन्धी अन्य चर्चाओं के साथ इसमें ब्रह्मविद्या का निरूपण भी है। ऐतरेय आरण्यक के द्वितीय आरण्यक के अन्तर्गत चतुर्थ से लेकर षष्ठ अध्यायों का नाम 'ऐतरेय' उपनिषद् है।[4] इसमें सृष्टि विज्ञान का मार्मिक विवेचन है। प्राचीनता गंभीरता तथा आत्मज्ञान प्रतिपादन की दृष्टि से 'छान्दोग्य' का महत्व समादृत है। इसमें आख्यान भी हैं तथा अध्यात्म ज्ञान भी है। इसके अन्त में रोग तथा निराकरण की कथा है तथा आत्म प्राप्ति के व्यावहारिक उपायों का सुन्दर संकेत है। 'बृहदारण्यक' विपुलकाय उपनिषद् है। तत्त्वज्ञान की दृष्टि से भी इसकी महिमा सम्पन्न है। इसमें अनेक प्रकार के दार्शनिक विचार आए हैं। यह आत्मविषयक सृष्टिविषयक तथा परलोकविषयक चिन्तन का अपूर्व कोष है। इन प्रमुख उपनिषदों में बृहदारण्यक सब दृष्टियों से बृहत् है।

गीता

उपनिषदों के द्वारा प्रतिपादित ज्ञान अधिकारी के लिए था। उनके गूढ़ तत्वों को 'गीता' में सरल तथा सुबोध पद्धति पर व्यक्त किया गया है। इसीलिए केवल ज्ञान की

---

१ वैदिक साहित्य पृ ११९।

२ वैदिक " पृ ११९।

३ वैदिक " पृ १२९।

४ वैदिक " पृ १२९।

श्लोको की समुदाय गीता को कामधेनु तथा कल्प-वृक्ष कहा गया है। इस ग्रन्थ को समन्वय दृष्टि के कारण महत्व प्राप्त है। वस्तुत उपनिषद् सांख्य कर्म-मीमांसा योग इत्यादि के सारभूत तत्त्वो का जैसा अपूर्व समन्वय 'गीता' मे हुआ है[२] वैसा भारतीय साधना मे कही नहीं है। 'प्रस्थानत्रयी' में गीता का द्वितीय स्थान उसके महत्व का उद्घोष ही करता है।

गीता में अध्यात्मपक्ष का विवेचन स्पष्ट भाषा में किया गया है। इसमें ब्रह्म के पर और अपर भाव भगवान की परा तथा अपरा प्रकृतियो क्षेत्रज्ञ जीव जगन्तत्त्व विद्यावस्था इत्यादि की प्रभावात्मक अभिव्यक्ति हुई है। कर्मयोगशास्त्र का तो यह सबसे प्रामाणिक ग्रन्थ है यद्यपि ज्ञानयोग ध्यानयोग एव भक्तियोग भी इसके प्रतिपाद्य हैं।[३] इस सम्बन्ध में तिलक ने ठीक ही कहा है कि 'ज्ञान भक्ति युक्त कर्मयोग' ही गीता का सार है।[४] वस्तुत गीता भारतीय चिन्ताधारा के समन्वयात्मक प्रयास की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है और नाना दृष्टियो का एक दृष्टि-रूप है।

चार्वाक

अवैदिक दर्शनो मे चार्वाक चिन्ताधारा प्राचीनता की दृष्टि से सर्व प्रथम है। इस दर्शन का सबसे प्राचीन नाम 'लोकायत' है।[५] इसके अनुयायी शास्त्र की अपेक्षा तर्क को महत्व देते थे। आगे ये चार्वाक कहे जाने लगे। इस नास्तिक मत के संस्थापक बृहस्पति नाम के आचार्य थे।[६] इनके द्वारा प्रणीत 'बार्हस्पत्य सूत्र' चार्वाक दर्शन के सर्वस्व है। भट्ट जयराशि रचित 'तत्त्वोपप्लवसिंह' प्रौढ़ कृति है। इस ग्रन्थ में तार्किकता प्रमुख है।

चार्वाक मत मे प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। अनुमान शब्द इत्यादि प्रमाणो का कोई महत्व नहीं माना जाता। उसके अनुसार हमारी इन्द्रियो के द्वारा प्रत्यक्षीकृत जगत ही सत् है, उससे अन्य पदार्थ नितान्त असत् है।[७] इसी प्रकार चार्वाक दर्शन अनुमान को प्रमाण नहीं मानता और सबल तर्क के द्वारा उसे खण्डित करता है। चार्वाक शब्द प्रमाण

---

१ भारतीय दर्शन पृ ९।
२ भारतीय दर्शन पृ ९।
३ भारतीय दर्शन पृ ११–११३।
४ गीता रहस्य पृ ४७।
५ भारतीय दर्शन पृ १२२।
६ भारतीय दर्शन पृ १२४।
७ भारतीय दर्शन पृ १२६।

की सरलता पर भी विश्वास नहीं करते। किसी पुरुष के आप्त वचनों में आस्था रखना भी वे अनुमान ही मानते हैं और उसका खण्डन करते हैं।

चार्वाक मत के अनुसार चार ही तत्त्व हैं—पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु।¹ ये ही जगत् के मूल कारण हैं। पृथ्वी आदि भूत चतुष्टय से मिलकर शरीर बनता है। इस शरीर के अतिरिक्त आत्मा नाम की कोई अन्य वस्तु नहीं है। कुछ चार्वाक इन्द्रियों को कुछ प्राण को और कुछ मन को आत्मा मानते थे।² शब्द तथा अनुमान की असत्यता के आधार पर ईश्वर की असिद्धि में चार्वाकों का विश्वास था।

चार्वाकों की दृष्टि में जीवन का लक्ष्य लौकिक सुख और आनन्द है। इसलिए अर्थ और काम की उपासना मुख्य है। ऋण लेकर भी घृत पीने का प्रस्ताव चार्वाक निःसंकोच करते हैं। उनके दर्शन में धर्म के लिए स्थान नहीं है, पाप-पुण्य का अस्तित्व नहीं और स्थूल भौतिक प्राप्ति ही समस्त श्रेय और प्रेय है।

जैन

इस धर्म के प्रवर्तक पार्श्वनाथ थे। इसके अन्तिम तीर्थंकर वर्धमान महावीर थे। ईस्वी पूर्व तृतीय शतक में जैन धर्म श्वेताम्बर और दिगम्बर नामक दो अवान्तर भेदों में विभाजित हो गया। इन भेदों में तत्त्वज्ञानविषयक अन्तर नहीं है पर आचारगत भेद पर्याप्त है।³

जैन धर्म का साधना सम्बन्धी साहित्य विपुल है। इसके आगम ग्रन्थ अर्धमागधी भाषा में विरचित हैं। अनेकान्तवाद, जीव और पुद्गल आदि दार्शनिक सिद्धान्तों की मीमांसा आगम ग्रन्थों में ही की गई है। अन्य ग्रन्थों में—'तत्त्वार्थसूत्र' 'नियमसार', 'स्याद्वादमंजरी' 'समयसार' 'प्रवचनसार' 'न्यायावतार' 'सन्मतितर्क' 'प्रमाण मीमांसा' इत्यादि का बड़ा महत्व है। इन रचनाओं में जैन मतवाद का स्वरूप स्पष्ट होकर व्यक्त हुआ है।

जैन मतानुसार जीव चैतन्यमय है। ज्ञान उसका साक्षात् लक्षण है। जीव स्वभावतः ज्ञानसंयुक्त है किन्तु कर्मों के आवरण के कारण उसका शुद्ध चैतन्य रूप हमारी दृष्टि से ओझल रहता है पर सम्यक् चारित्र के पालन से जीव अपने शुद्ध रूप को पुनः प्राप्त

---

१ भारतीय दर्शन पृ ११७।
२ भारतीय दर्शन पृ ११८।
३ भारतीय दर्शन पृ १ ।

कर सकता है वह कैवल्य तथा सर्वज्ञता से मण्डित हो सकता है।[1] जैन दर्शन मोक्ष के लिए सम्यक् दर्शन सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र को अनिवार्य मानता है।[2] वस्तुतः आचार मीमांसा जैन मत का महत्वपूर्ण अङ्ग है।

बौद्ध

इस धर्म के संस्थापक महामुनि गौतम बुद्ध का चरित्र नितान्त प्रख्यात है। बुद्ध के उपदेश मागधी भाषा में मौखिक होते थे। उनके निर्वाण के उपरान्त 'सुत्त पिटक' के रूप में उनके उपदेशों का संकलन किया गया। 'सुत्त पिटक के अतिरिक्त विनय पिटक' और 'अभिधम्म पिटक' भी महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। ये तीनों पिटक बुद्ध धर्म के सर्वस्व हैं।[3] इन पिटकों के भीतर अनेक छोटे बड़े ग्रन्थ हैं। नागसेनकृत मिलिन्दपंञ्हो त्रिपिटक के समान ही समादृत है।

बौद्ध धर्म आचार प्रधान है। उसके मूल में दो दार्शनिक सिद्धान्त मुख्य हैं—संघातवाद और सन्तानवाद। बुद्ध ने उपनिषदीय अर्थ में आत्मा जैसे एक पृथक पदार्थ को नहीं माना है, वे मानसिक अनुभव तथा विभिन्न प्रवृत्तियों को स्वीकार करते हैं परन्तु आत्मा को उनके समान से भिन्न पदार्थ नहीं मानते।[4] त्रिपिटकों के कथनानुसार जीव तथा जगत् अनित्य हैं और परिणामशाली हैं। इस विश्व में परिणाम ही सत्य है किन्तु इस परिणाम के भीतर विद्यमान किसी परिणामी पदार्थ का अस्तित्व असत्य है।[5] बुद्ध की यह चिन्तना दार्शनिक विचारों के क्षेत्र में बड़ा महत्व रखती है। इसकी मौलिकता बुद्ध दर्शन के स्वतन्त्र चिन्तन का परिणाम है।

बौद्ध दर्शन के चार सम्प्रदाय इस प्रकार हैं—

१ वैभाषिक
२ सौत्रान्तिक
३ योगाचार
४ माध्यमिक

---

१ भारतीय दर्शन पृ १५४।
२ भारतीय दर्शन पृ १७१।
३ भारतीय दर्शन पृ १८ ।
४ भारतीय दर्शन पृ १८ ।
५. भारतीय दर्शन पृ १९?

इन सम्प्रदायों के आचार्यों ने साधना सम्बन्धी प्रचुर साहित्य प्रस्तुत किया है। वैभाषिक सम्प्रदाय का सर्वमान्य ग्रन्थ 'अभिधर्मज्ञान प्रस्थान शास्त्र' है। इसके अतिरिक्त 'अभिधर्मकोष' 'धातुकाय' 'समय प्रदीपिका' इस सम्प्रदाय के उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं। इनमें जगत् और निर्वाण इत्यादि के महत्वपूर्ण प्रश्नों पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया गया है। सौत्रान्तिक सम्प्रदाय के ग्रन्थों में 'विभाषा शास्त्र' 'समयभेदउपरचन चक्र' इत्यादि हैं। इनमें बाह्य ज्ञान जगत् निर्वाण ऐसे विषयों पर विचार हुआ है। योगाचार सम्प्रदाय के ग्रन्थों में 'मध्यान्तविभङ्ग सूत्र', अभिसमयालङ्कार 'सूत्रालङ्कार' महायानसंपरिग्रह' 'योगाचार भूमि शास्त्र' 'मूलमाध्यमक कारिका वृत्ति' 'प्रमाण समुच्चय' 'न्याय बिन्दु' की गणना की जाती है। इनमें प्रज्ञापारमिता अथवा निर्वाण सम्बन्धी विषयों की मीमांसा की गई है। विज्ञानवाद इनकी महत्वपूर्ण उपलब्धि है। माध्यमिक सम्प्रदाय के प्रधान ग्रन्थ 'माध्यमिक शास्त्र' 'चतुःशतक' प्रज्ञा प्रदीप' माध्यमिकावतार' तत्वसंग्रह' हैं। इस मत के आचार्यों ने 'शून्यवाद' की प्रतिष्ठा की। नागार्जुन इसके प्रख्यात आचार्य थे।

न्याय

न्याय-दर्शन का विषय न्याय का प्रतिपादन है। न्याय का व्यापक अर्थ है— विभिन्न प्रमाणों की सहायता से वस्तु तत्व की परीक्षा।[1] इन प्रमाणों के स्वरूप के वर्णन करने में तथा इस परीक्षा प्रणाली के व्यावहारिक रूप प्रकट करने से यह दर्शन न्याय-दर्शन के नाम से पुकारा जाता है। प्रमाण की विस्तृत मीमांसा करके न्याय ने जिन तत्वों की खोज निकाला है उनका अन्य दर्शनों ने भी उपयोग किया है।

भारतीय दार्शनिक साहित्य में न्याय की ग्रन्थ-सम्पत्ति विपुल है। गौतमकृत 'न्यायसूत्र' इसका प्रमुख ग्रन्थ है। अन्य रचनाओं में 'तात्पर्य टीका' 'न्यायसूची निबन्ध' 'न्याय मञ्जरी' 'न्याय सार, तत्व-चिन्तामणि आलोक किरणावलि' दीधिति इत्यादि हैं।

उदयनाचार्य ने 'न्याय कुसुमाञ्जलि' में ईश्वर की सिद्धि अकाट्य युक्तियों के सहारे की है।[2] द्वादश प्रमेय के अनुसार आत्मा सब वस्तुओं का द्रष्टा भोक्ता और ज्ञाता है। शरीर भोगों का आधार है। इन्द्रियों के द्वारा आत्मा बाह्य वस्तुओं का भोग करता है। भोगों के अर्थादि अनेक साधन हैं। दुःखों का अत्यन्त मुक्ति [illegible] है। न्याय

---

१ भारतीय दर्शन पृ १८-२४७।
२ भारतीय दर्शन पृ २३१।
३ भारतीय दर्शन पृ २६६।

दर्शन में इसको 'प्रमेय' कहा गया है। न्याय के अनुसार दुःख से अत्यन्त विमोक्ष को अपवर्ग कहते हैं। नैयायिकों की दृष्टि में मुक्त आत्मा में सुख का भी अभाव रहता है।[2] यह मत वेदान्तियों के मत के सर्वथा विपरीत है।

वैशेषिक

वैशेषिक दर्शन जैन तथा बौद्ध दर्शनों से प्राचीन माना गया है।[3] इस दर्शन के सूत्रकार महर्षि कणाद हैं। सूत्रों के अतिरिक्त 'पदार्थ-धर्म-संग्रह' वैशेषिक दर्शन धारा को समझने के लिए उत्तम ग्रन्थ है। इसमें मुख्य रूप से परमाणुवाद, जगत् की उत्पत्ति तथा प्रलय आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है।[4] वैशेषिक दर्शन-ग्रन्थों में 'व्योमवती', 'किरणावली', 'न्यायकन्दली', 'न्याय लीलावती', 'कणाद रहस्य', 'सप्त पदार्थी', 'उपस्कार', 'कण्ठाभरण', 'सेतु रत्न प्रकाश', 'तर्क संग्रह' इत्यादि का महत्व है। ये ग्रन्थ अधिकतर टीकाएँ हैं।

वैशेषिक जगत् की वस्तुओं के लिए 'पदार्थ' शब्द का प्रयोग करते हैं।[5] पदार्थ दो प्रकार के होते हैं—भाव पदार्थ तथा अभाव पदार्थ। भाव पदार्थ के छः भेद बताये गए हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय। अभाव चार प्रकार का माना जाता है—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव तथा अन्योन्याभाव।[6]

कार्य के समवायी कारण और गुण तथा कर्म के आश्रयभूत पदार्थ को 'द्रव्य' कहते हैं।[7] वैशेषिक नौ द्रव्य मानते हैं—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, आत्मा और मन। गुणों की संख्या सत्रह है। कर्म पाँच प्रकार का है। सामान्य विशेष के विपरीत है। समवाय वस्तुद्वय में रहने वाला नित्य सम्बन्ध है, वह संयोग से भिन्न है। अङ्गी अङ्ग में, गुण गुणवान् में, क्रिया क्रियावान् में, जाति-व्यक्तियों में तथा विशेष-नित्य-द्रव्यों में वह निवास करता है

१ भारतीय दर्शन पृ २६६।
२ भारतीय दर्शन पृ २७०।
३ भारतीय दर्शन पृ २७७।
४ भारतीय दर्शन पृ २७८।
५ भारतीय दर्शन पृ २८४।
६ भारतीय दर्शन पृ २८६।
७ भारतीय दर्शन पृ २८६।
८ भारतीय दर्शन पृ २८६–२९०।

अभाव पदार्थ की सत्ता उतनी ही आवश्यक है जितनी भाव पदार्थ की। प्राग भाव प्रध्वंसाभाव तथा अत्यन्ताभाव संसर्गाभाव के अन्तर्गत आते हैं। दो वस्तुओं में होने वाले संसर्ग या सम्बन्ध का निषेध संसर्गाभाव है अर्थात् कोई वस्तु अन्य वस्तु में विद्यमान नहीं है। अन्योन्याभाव का अर्थ यह है कि एक वस्तु दूसरी वस्तु नहीं है अर्थात् दोनों में भेद है। वैशेषिक दर्शन में अभाव का अध्ययन नितान्त अपेक्षित है।

वैशेषिक दर्शन में भी जगत् के सम्बन्ध में चिन्तन हुआ है। वैशेषिक परमाणुओं से जगत् की उत्पत्ति मानते हैं। इस मत के आचार्यों ने 'अदृष्ट' की कल्पना करते हुए कहा है कि अदृष्ट की सहकारिता से ईश्वर की इच्छा से ही परमाणुओं में स्पन्दन तथा तज्जन्य सृष्टि होती है।[2]

वैशेषिक दर्शन में ईश्वर की सत्ता के सम्बन्ध में मतभेद है। वैशेषिक सूत्रों में ईश्वर के सम्बन्ध में स्पष्ट ज्ञान नहीं होता किन्तु परवर्ती ग्रन्थकारों ने ईश्वर की सत्ता एकमत से मानी है। अतएव वैशेषिक दर्शन को अनीश्वरवादी होने का आक्षेप नहीं लगाया जा सकता।[3]

सांख्य

सांख्य-दर्शन के प्रथम व्याख्याता महर्षि कपिल हैं।[4] उपनिषदों में एवं गीता में भी सांख्य शास्त्र के सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है।[5] इससे इस दर्शन शास्त्र की प्राचीनता प्रमाणित हो जाती है।

सांख्य-दर्शन का उपलब्ध साहित्य विपुल नहीं है। महर्षि कपिल की दो रचनायें हैं— 'तत्त्व समास' तथा 'सांख्य सूत्र'। इनमें प्रधान वैराग्य तत्त्वों इत्यादि की चर्चा है। कपिल के शिष्य आसुरि की अन्य रचनायें भी उपलब्ध हुई हैं। इनके शिष्य पंचशिख ने इस दर्शन को व्यवस्था प्रदान की। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'षष्टितन्त्र' है। ईश्वरकृष्ण कृत 'सांख्यकारिका' सांख्य दर्शन का सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ है और सांख्य की मीमांसा करते समय इस ग्रन्थ की सर्वाधिक चर्चा होती है।[6] इस पर अनेक विद्वत्तापूर्ण टीकायें की गई हैं।

---

१ भारतीय दर्शन पृ० २९-३ ।
२. भारतीय दर्शन पृ ३ ३।
३ भारतीय दर्शन पृ ३ ८।
४ सांख्यकारिका भूमिका पृ १।
५. सांख्यकारिका भूमिका पृ १।
६ भारतीय दर्शन पृ ११७-१२ ।

सांख्य दर्शन का दर्शन है। इसके अनुसार २५ तत्त्व ऐसे होते हैं जिनके ज्ञान से मुक्ति सम्भव है। वे इस प्रकार हैं—प्रकृति (ज्ञानेन्द्रियों में) चक्षु, घ्राण रसना त्वक तथा श्रोत्र (कर्मेन्द्रियों में) वाक पाणि पाद पायु उपस्थ मन और (महाभूतों में) पृथ्वी जल तेज वायु और आकाश महत्तत्त्व अहंकार तथा पंचतन्मात्रायें तथा पुरुष।

सांख्य शास्त्र के अनुसार सृष्टि के सब पदार्थों में तीन वर्ग होते हैं। अव्यक्त, व्यक्त और पुरुष।[२] प्रलय काल में व्यक्त नष्ट हो जाता है अतएव मूल रूप में प्रकृति और पुरुष दो ही तत्त्व शेष रह जाते हैं। सांख्यवादियों के मतानुसार ये दोनों तत्त्व अनादि और स्वयम्भू हैं। इसीलिए सांख्य को द्वैतवादी या दो मूल तत्त्व मानने वाला दर्शन कहा जाता है।[३]

सांख्य शास्त्र कार्य तथा कारण की अभिन्नता का प्रतिपादक है। कार्य और कारण एक ही पदार्थ के दो रूप हैं एक व्यक्त दूसरा अव्यक्त। अव्यक्त रूप से जो कारण कहाता है वही व्यक्त होकर कार्य रूप में परिणत हो जाता है। इसी को परिणामवाद कहते हैं। सांख्य का यह मान्य सिद्धान्त है।[४]

योग

योग-दर्शन की प्राचीनता निर्विवाद है। उपनिषद एवं गीता में योग के तत्त्वों का यथेष्ट वर्णन है। उपनिषद साहित्य में २१ उपनिषद ऐसे हैं जिनमें योग का सम्पूर्ण विवेचन है। इनकी गणना इस प्रकार है—(१) अद्वय तारक (२) अमृतनाद (३) अमृत बिन्दु (४) क्षुरिका (५) तेजोबिन्दु (६) त्रिशिखि-ब्राह्मण (७) दर्शन (८) ध्यानबिन्दु (९) नादबिन्दु (१) पाशुपत ब्रह्म (११) ब्रह्मविद्या (१२) मण्डल ब्राह्मण (१३) महा-वाक्य (१४) योग कुण्डली (१५) योग चूड़ामणि (१६) योग तत्त्व (१७) योग शिखा (१८) वराह (१९) शाण्डिल्य (२) हंस (२१) योगराज। इन उपनिषदों में आसन प्राणायाम मुद्रा हंस-मंत्र नाडी-विज्ञान इत्यादि की चर्चा की गई है। इनसे साम्प्रदायिक योग की रूपरेखा का परिचय प्राप्त होता है।[५]

---

१ भारतीय दर्शन पृ १२३—१२४।
२ गीता रहस्य पृ १६२।
३ गीता रहस्य पृ १६२।
४ सांख्यकारिका भूमिका पृ ३।
५ भारतीय दर्शन पृ १५ ।

महर्षि पतंजलि योग सूत्रों के रचयिता हैं। पतंजलि योग दर्शन में चार पाद हैं। इन चार पादों में योग साधना के अनेक विषयों का विवेचन किया गया है। प्रथम पाद में समाधि के रूप तथा भेद, द्वितीय पाद में क्रिया योग, अष्टाङ्ग योग इत्यादि, तृतीय पाद में धारणा, ध्यान और समाधि तथा चतुर्थ पाद में समाधि सिद्धि एवं कैवल्य का निर्णय किया गया है।

पातंजल योग दर्शन पर व्यास भाष्य महत्वपूर्ण माना गया है। अपनी गूढ़ और गम्भीर विवेचना पद्धति के कारण यह समादृत है। योग सूत्रों पर अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं। इनमें 'राजमार्तण्ड', 'मणि प्रभा', 'योग चन्द्रिका', 'योगसुधाकर' इत्यादि उल्लेखनीय हैं। इनमें 'राजमार्तण्ड' भोजवृत्ति के नाम से अत्यन्त प्रसिद्ध है और योग सूत्रों के अध्ययन में सहायक है।

मीमांसा

मीमांसा वैदिक कर्मकाण्ड सम्बन्धी श्रुतियों के पारस्परिक विरोध का परिहार करती है। मीमांसा के प्रमुख आचार्यों में जैमिनि का स्थान सर्व प्रमुख है। जैमिनि ने १६ अध्यायों में मीमांसा दर्शन के मूलभूत सूत्रों की रचना की जिसमें प्रथम बारह अध्याय 'द्वादश-लक्षणी' के नाम से तथा अन्तिम चार अध्याय 'संकर्ष काण्ड' अथवा 'देवताकाण्ड' के नाम से प्रसिद्ध हैं। पहले के द्वादश अध्याय मीमांसा दर्शन का मुख्य भाग है। इस पर शबर स्वामी का सुप्रसिद्ध भाष्य लिखा गया जिस पर कुमारिलभट्ट ने तीन विस्तारपूर्ण वृत्ति ग्रन्थ प्रस्तुत किए—'श्लोक वार्तिक' 'तन्त्रवार्तिक' 'टुप टीका'। अन्य मीमांसा-ग्रन्थों में 'विधिविवेक' 'भावना विवेक' 'विभ्रम विवेक' 'तन्त्र रत्न' 'न्याय रत्नाकर' 'शास्त्रदीपिका' 'न्यायमालाविस्तार' 'सेश्वर मीमांसा' भाट्ट कौस्तुभ 'भाट्टदीपिका' 'भाट्ट रहस्य' इत्यादि की गणना है।[1]

मीमांसा जगत् की सृष्टि तथा नाश नहीं मानती। केवल व्यक्ति उत्पन्न होते रहते हैं और विनाश प्राप्त करते रहते हैं। कुछ मीमांसक अणुवाद को मानते हैं। उनके अनुसार जगत् के वस्तुजात अणु से उत्पन्न हुए हैं।[2] मीमांसा के मत से आत्मा कर्ता तथा भोक्ता दोनों है।[4] न्याय और वैशेषिक मत के विपरीत भाट्ट मीमांसक आत्मा के

---

१ भारतीय दर्शन पृ० १२७–१३१।
२ भारतीय दर्शन पृ० १०३–१०८।
३ भारतीय दर्शन पृ० १९१।
४ भारतीय दर्शन, । १९१।

क्रिया की स्थिति में विश्वास करते हैं। वेदान्त मत के विपरीत कुमारिल भट्ट आत्मा को चैतन्यस्वरूप न मानकर, चैतन्य-विशिष्ट मानते हैं।[१] वस्तुतः चैतन्य आत्मा का स्वभाव नहीं है, यह अनुकूल परिस्थितियों में उत्पन्न होता है। प्राचीन मीमांसकों के अनुसार यज्ञ से ही कर्मफल प्राप्त होता है ईश्वर के कारण नहीं। प्राचीन मीमांसा ग्रन्थों के आधार पर ईश्वर की सत्ता सिद्ध मानी नहीं जाती किन्तु परवर्ती मीमांसा ने ईश्वर को यज्ञपति के रूप में मान लिया।

अद्वैतवाद

अद्वैत-दर्शन भारतीय चिन्तन की महान् उपलब्धि है। इसमें ब्रह्म जीव जगत् माया मुक्ति इत्यादि प्रसंगों की निगूढ विवेचना की गई है। इस दर्शन के प्रमुख व्याख्याता शंकराचार्य हैं जिन्होंने 'उपनिषद् भाष्य' 'गीताभाष्य' तथा 'ब्रह्मसूत्र भाष्य' की रचना द्वारा अद्वैतवाद सम्बन्धी अपनी महती मान्यता स्थापित की। यह भारतीय चिन्ताधारा के चरमोत्कर्ष का विधान है।

अद्वैत वेदान्त आत्मा की स्वतःसिद्धता प्रतिपादित करता है आत्मा ज्ञान रूप और ज्ञाता भी है यह निरुपाधि है। इसी निर्विकल्पक निरुपाधि तथा निर्विकार सत्ता का नाम ब्रह्म है। यह ब्रह्म ही जगत् की उत्पत्ति स्थिति तथा लय का कारण है। ईश्वर की बीज शक्ति को माया कहते हैं जो एक के स्थान पर अनेक रूप है। जगत् के रूप में यही अनेकरूपता विद्यमान है। नित्य परिवर्तनशीलता इसका धर्म है। आत्मबोध द्वारा नानात्ववर्ती माया के प्रभाव से छुटकारा मिलता है तथा जीव 'अहं ब्रह्मास्मि' की भावना से मोक्ष प्राप्त करता है। यही अद्वैत साधना का मूल मंत्र है।

तन्त्र शास्त्र

तन्त्र का अर्थ वह शास्त्र है जिसके द्वारा ज्ञान का विस्तार किया जाता है।[४] इन्हीं को आगम भी कहते हैं। इष्टदेवता के भेद की दृष्टि से आगम या तन्त्र मुख्य रूप से तीन प्रकार के हैं—

---

१ भारतीय दर्शन पृ १९२।
२ भारतीय दर्शन पृ १९१।
३ भारतीय दर्शन पृ ४११–४१ ।
४ भारतीय दर्शन पृ ४५१।

१ वैष्णव तंत्र
२. शैव-शाक्त तंत्र
३ बौद्ध–जैन तंत्र

वैष्णव तंत्र में 'पाञ्चरात्र' प्रमुख है। पांचरात्र तंत्र विषयक साहित्य विशाल है किन्तु उसका अधिकांश अप्रकाशित है। अब तक केवल तेरह पांचरात्र संहिताएं प्रकाशित हुई हैं। इन संहिताओं में ज्ञान योग क्रिया तथा चर्या पर विचार किया गया है। अधिकांश में क्रिया क्रिया से कम ज्ञान और सबसे कम योग का विवेचन है। अतएव यह कहा जा सकता है कि चर्या और क्रिया के व्यवहार पक्ष का उद्घाटन ही इन संहिताओं का मुख्य प्रयोजन है। इन संहिताओं में 'पौष्कर' 'सात्वत' जयाख्य संहिताएं प्राचीन मानी जाती हैं।[1]

तांत्रिक शाक्तमत का लक्ष्य जीवात्मा की परमात्मा के साथ अभेद सिद्धि है। शाक्तों के अनुसार परब्रह्म निष्कल शिव सर्वज्ञ स्वयंज्योति आद्यन्त विरहित निर्विकार तथा सच्चिदानन्द स्वरूप है। जीव अग्निविस्फुलिंगवत् ब्रह्म से आविर्भूत हुआ है।[2] शाक्तों की यह विचार प्रणाली वेदान्त मूलक है। अन्तर यह है कि वेदान्त ज्ञान प्रधान है और तंत्र अधिकांश में क्रिया प्रधान है।

तांत्रिक साधना सम्बन्धी साहित्य में महानिर्वाणतन्त्र कुलार्णवतन्त्र 'भाव चूडामणितन्त्र' 'कौलज्ञाननिर्णय तंत्र' की विशेष चर्चा की जाती है। 'कौलज्ञान निर्णय' का सम्बन्ध मत्स्येन्द्रनाथ के कौल सम्प्रदाय से है। इसी कौल सम्प्रदाय के साधना विषयक तत्त्वों का नाथ सम्प्रदाय पर प्रभाव पड़ा था। गोरखनाथ ने इसकी कतिपय साधनाओं का परिष्कार करके उनको साधना में अन्तर्भुक्त किया। नाथपंथ और उनकी परम्परा के परवर्ती आचार्यों की साधना पद्धति के प्रसंग में तांत्रिक प्रभाव व्यक्त करती है।

बौद्ध तंत्रों का विकास वज्रयानी साहित्य के रूप में हुआ है। वज्रयान की गुह्य पद्धति तांत्रिक थी। गुह्य समाज 'प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि' तथा 'ज्ञानसिद्धि' के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस साधना में गोपनीयता प्रमुख थी। इस साधना का दर्शनपक्ष उदात्त था किन्तु वास्तविक ज्ञान से वंचित अनुयायियों के पारिभाषिक शब्दों को न समझ पाने के कारण आचरणहीनता बढ़ती गई। यह

---

१ भारतीय दर्शन पृ ४५–४६
२ भारतीय दर्शन पृ ३११

तांत्रिक बौद्ध धर्म चीन तथा विशेषरूप से तिब्बत मे फैला था।[1] 'ॐ मणिपद्मे हुँ' इसका मूल मंत्र है।

जैन धर्म में भी तन्त्रों की सत्ता है। इनको गोपनीय मानने के कारण अभी तक वे प्रकाश में नहीं आए हैं। हेमचन्द्रविरचित योगशास्त्र से यह ज्ञात होता है कि 'पदस्थ' नामक ध्यान में पद्मतन्त्र वेध की पद्धति के अनुसार वर्णमयी देवता का चिन्तन किया जाता है।[2] जैन तन्त्रों में प्रणव (ॐ) आदि बीजाक्षर शाक्त तन्त्रों की भांति ही मान लिए गए हैं। इससे यह प्रकट होता है कि जैन तंत्रों में शाक्त तन्त्रों की अधिकांश भावनाएं विद्यमान हैं।

नाथमत

गोरखनाथ और उनकी परम्परा में प्रादुर्भूत सिद्ध योगियों का साधना सम्बन्धी साहित्य यथेष्ट मात्रा में उपलब्ध होने लगा है। नाथ सम्प्रदाय के ग्रन्थ संस्कृत और भाषा दोनों में हैं। संस्कृत के प्रमुख प्रसिद्ध ग्रन्थ इस प्रकार हैं—'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' 'सिद्ध सिद्धान्त संग्रह' 'गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह' 'गोरक्ष पद्धति' 'योग मार्तण्ड' 'योग बीज' 'अमरौघ प्रबोध' 'योग विषय' इत्यादि। भाषा ग्रन्थों में प्रमुख और उल्लेखनीय 'गोरख बानी' तथा 'नाथ सिद्धों की बानियाँ' हैं। 'गोरख बानी' में नाथ सम्प्रदाय के कई लघुकाय ग्रन्थ भी संगृहीत हैं।

नाथ सम्प्रदाय की साधना पद्धति योग प्रधान है। हठयोग इसका मूलाधार है।[3] इडा और पिंगला नाड़ियों का रोक कर सुषुम्ना मार्ग से प्राणवायु के सञ्चरण को हठयोग कहते हैं।[4] इसीलिए हठयोग को नाड़ी योग भी कहते हैं। इस सम्बन्ध में नाथ-योगियों ने विभिन्न नाड़ियों तथा चक्रों आदि का विशद वर्णन किया है। साधना के प्रसंग में योग की अनेक मुद्राओं का वर्णन भी किया गया है।[5] इसी प्रकार पिंड एवं ब्रह्माण्ड के सिद्धान्त का वर्णन किया गया है[6] तथा यह निर्दिष्ट किया गया है कि शरीर के किस स्थान पर कौन सा तत्त्व विद्यमान है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि नाथ-सम्प्रदाय

---

१ भारतीय दर्शन पृ २१९–२४१
२ भारतीय दर्शन पृ २४४
३ नाथ सम्प्रदाय पृ १२३
४ नाथ सम्प्रदाय पृ १२३
५. नाथ सम्प्रदाय पृ ११
६ नाथ सम्प्रदाय पृ ११

साधना का यह क्षेत्र मात्र दर्शन का इतिहास ही नहीं है। इसमें अनात्मवादी विचारधारा भी प्रविष्ट हो गई है। चार्वाक और बौद्ध इसके प्रबल शक्ति स्रोत थे। ब्राह्मण धर्म में इनका प्रभाव कम होता चला गया किन्तु ये विषय इतना स्पष्ट कर ही देते हैं कि साधना और साहित्य के सुदीर्घ विस्तार काल में इनका भी दृष्टिकोण था। इससे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि भारतीय चिन्ताधारा ने अनेक मोड़ देखे हैं। ये उसके व्यापक अनुभव और तत्सम्बन्धी अन्वेषण के परिचायक हैं।

दर्शन और साधना का यह साहित्य भी विपुल है। वैदिक साहित्य से लेकर मध्ययुगीन धर्म-सम्प्रदायों के साहित्य की प्रचुरता असंदिग्ध है। इससे यह प्रमाणित होता है कि भारतीय मनीषा तत्त्वचिन्तन के क्षेत्र में निरन्तर अभ्यास करती रही है और इसी के आधार पर उसने दर्शन और साधना के विभिन्न पक्षों का प्रबल प्रतिपादन किया है। कदाचित् संसार के इतिहास में निगूढ़ ज्ञान पिपासा का ऐसा ज्वलन्त उदाहरण दूसरा न प्राप्त होगा। भारतीय साधना और साहित्य की यह उल्लेखनीय प्रवृत्ति अविस्मरणीय है।

उपनिषद्

ब्रह्म

उपनिषदों के अध्यात्मवेत्ता ऋषियों ने इस नामात्मक सतत परिवर्तनशील अनित्य जगत् के मूल में विद्यमान शाश्वत सत्ता का अन्वेषण तात्त्विक दृष्टि से कर दिखाया है। इस अन्वेषण कार्य में उन्होंने तीन विभिन्न पद्धतियों का प्रयोग किया है—आधिभौतिक आधिदैविक तथा आध्यात्मिक।[1] आधिभौतिक पद्धति इस भौतिक जगत् की उत्पत्ति स्थिति और विनाश के कारणों की छानबीन करती हुई विलक्षण नित्य पदार्थ के निर्वचन में समर्थ होती है। आधिदैविक पद्धति नामरूप तथा स्वभाव वाले विपुल देवताओं में शक्ति संचार करने वाले एक परमात्मतत्त्व को खोज निकालती है। आध्यात्मिक पद्धति में मानस प्रक्रियाओं तथा शारीरिक कार्य कलापों के अवलोकन करने से उनके मूलभूत आत्मतत्त्व का निरूपण किया जाता है। इन तीन अन्वेषण पद्धतियों के उपयोग द्वारा उपनिषत्कालीन दार्शनिकों ने जिस परमतत्त्व परम सत्यभूत पदार्थ का ऊहापोह किया है उसे ब्रह्म कहते हैं।[2]

उपनिषदों में ब्रह्म के तीन स्वरूपों का मुख्य रूप से वर्णन किया गया है—

१—सगुण
२—सगुण—निर्गुण
३—निर्गुण

सगुण ब्रह्म का प्रतिपादन उपनिषदों में किया गया है। उपासना के लिए इस बात की कोई आवश्यकता नहीं कि वह प्रत्यक्ष मूर्ति हो नेत्रों के सम्मुख रहे। ऐसे स्वरूप की भी उपासना सम्भव है जो निराकार अर्थात् चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों को अगोचर हो। परन्तु जिस स्वरूप की उपासना की जाय वह ज्ञानेन्द्रियों को चाहे गोचर न हो किन्तु मन को गोचर हुए बिना उसकी उपासना संभव नहीं है। उपासना चिन्तन मनन का व्यापार ही कहते हैं। यदि चिन्त्य पदार्थ का कोई रूप न हो तो न सही पर जब तक उसका कोई अन्य गुण भी मन को ज्ञात न हो जाय तब तक वह चिन्तन

---

१ भारतीय दर्शन पृ ७१
२ भारतीय दर्शन पृ ७२

चिन्तन करेगा ? अतएव उपनिषदों में जिन स्थलों पर अव्यक्त अर्थात् अगोचर परमात्मा की उपासना कही गई है वहाँ ब्रह्म सगुण ही कल्पित किया गया है। 'छान्दोग्योपनिषद्' में अव्यक्त ब्रह्म का सगुण वर्णन करते हुए कहा गया है कि ब्रह्म मनोमय प्राणशरीर, भारूप सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकाम सर्वरस और सर्वगन्ध है।[1] 'तैत्तिरीयोपनिषद्' में ब्रह्म का लक्षण निर्दिष्ट करते हुए उसे 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'[2] कहा गया है। 'बृहदारण्यक' में ब्रह्म को 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'[3] बताया गया है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि ब्रह्म सत्य (सत्) ज्ञान (चित्) और आनन्द रूप है अर्थात् सच्चिदानन्द रूप है। इस प्रकार समस्त गुण इन तीन गुणों में समाविष्ट हो जाते हैं। वस्तुतः सच्चिदानन्द सगुण ब्रह्म के सर्वोच्च लक्षण हैं।

उपनिषदों में ब्रह्म का सगुण निर्गुण मिश्रित अथवा परस्पर विरोधी वर्णन भी प्राप्त होता है। 'छान्दोग्योपनिषद्' में आत्म रूप ब्रह्म को लघु से लघु एवं बृहद् से बृहद् कहा गया है।[4] 'कठोपनिषद्' में भी ब्रह्म को 'अणोरणीयान्महतो महीयान्' अर्थात् अणु से भी अणुतर और महान् से भी महत्तर निर्दिष्ट किया गया है। 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' में भी ब्रह्म का सगुण–निर्गुण मिश्रित परस्पर विरोधी वर्णन दृष्टिगत होता है। इसमें कहा गया है कि ब्रह्म समस्त इन्द्रियवृत्तियों के रूप में अवभासित होता हुआ भी समस्त इन्द्रियों से रहित है।[6] 'ईशोपनिषद्' में ब्रह्म के परस्पर विरुद्ध धर्मों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि ब्रह्म चलता है और चलता भी नहीं है वह दूर है और समीप भी है। वह सबके अन्तर्गत है और बाहर है।[7] इसी उपनिषद् में प्रतिपादित है कि ब्रह्म स्थिर है किन्तु गतिशील का अतिक्रमण करने वाला है।[8]

---

१ मनोमय प्राणशरीरो भारूप सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकाम सर्वगन्ध सर्वरस सर्वमिदमभ्यात्तो ॥ —छान्दोग्योपनिषद् ३।१४।२।

२ तैत्तिरीयोपनिषद् २।१।१।

३ बृहदारण्यकोपनिषद्, ३।९।२८।

४ एष म आत्मान्तर्हृदयेऽणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वैष म आत्मान्तर्हृदये ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः ॥ —छान्दोग्योपनिषद् ३।१४।३।

५ कठोपनिषद् १।२।२।

६ सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
—श्वेताश्वतरोपनिषद्, ३।१७।

७ तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥
—ईशावास्योपनिषद् ५।

८ ईशावास्योपनिषद् ४।

'मुण्डकोपनिषद्' में भी 'दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च'[1] के द्वारा ब्रह्म को एक साथ ही दूर और निकट बताकर उसके परस्पर विरुद्ध स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है।

इस प्रकार उपनिषदों में ब्रह्म का सगुण-निर्गुण मिश्रित परस्पर विरोधी वर्णन भी किया गया है। इससे भी अग्रसर होकर 'कठोपनिषद्' में कहा गया है कि उस ब्रह्म को जानना वांछित है जो समस्त द्वन्द्वों से तटस्थ है। नचिकेता ने यमराज से धर्म और अधर्म के कृत और अकृत के एवं भूत तथा भविष्यत् के भी परे रहने वाले ब्रह्म की जिज्ञासा की थी।[2] 'बृहदारण्यक' में पृथ्वी जल और अग्नि को ब्रह्म का मूर्त रूप कहा गया है।[3] तत्पश्चात् वायु तथा आकाश को अमूर्त रूप कह कर स्पष्ट किया है कि इन अमूर्तों के सारभूत पुरुषों के रूप व रंग परिवर्तित हो जाते हैं[4] और अन्त में उपदेश किया है कि 'नेति' 'नेति' अर्थात् अब तक जो कहा गया है वह ब्रह्म नहीं है—समस्त नामरूपात्मक मूर्त अथवा अमूर्त पदार्थों के परे जो 'अगृह्य या अवर्णनीय' है उसे ही परब्रह्म समझो।[5] अतएव जिन पदार्थों को कुछ भी नाम दिया जा सकता है उन सबसे भी परे रहने वाला तत्व ब्रह्म है। उसका अव्यक्त तथा निर्गुण स्वरूप निर्दिष्ट करने के लिए 'नेति' 'नेति' एक संक्षिप्त निर्देश-सूत्र ही हो गया है।

उपनिषदों के मत से अव्यक्त निर्गुण एवं निरुपाधि ब्रह्म अनिर्वचनीय है। गुणों के सामान्य अभाव में शब्दों के द्वारा उसका वर्णन सम्भव नहीं। असीम को ससीम के द्वारा अभिव्यक्त भी किस प्रकार किया जा सकता है? अभिव्यक्ति की असामर्थ्य के कारण ही उपनिषदों में 'नेति' या निषेधात्मक वर्णन पद्धति द्वारा ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में 'स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो'[6] के द्वारा निर्गुण ब्रह्म की अग्राह्यता ही वर्णित है। ब्रह्म वर्णन की निषेधात्मक पद्धति के द्वारा ही 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में याज्ञवल्क्य ने गार्गी से कहा है कि ब्रह्म न स्थूल है न सूक्ष्म, न लघु है न दीर्घ न लाल है न द्रव है न छाया है न तम है न वायु है न आकाश है न संग है न रस है न गन्ध है न नेत्र है न कान है न वाणी है, न

---

१ मुण्डकोपनिषद् ३।१।७।

२ अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात् ।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥
—कठोपनिषद् १।२।१४।

३ बृहदारण्यकोपनिषद् २।३।२।

४ बृहदारण्यकोपनिषद् २।३।३।

५ ,, २।३।६।

६ ,, ४।२।४, ४।४।२२, ४।५।१५।

मन है न तेज है न प्राण है न मुख है न माप है उसमें न अन्तर है न बाहर है वह कुछ भी नहीं खाता और उसे कोई भी नहीं खाता।[1] 'माण्डूक्योपनिषद्' में भी आत्मा के अग्राह्यत्व के कारण 'नेति नेति' द्वारा निषेधमुखेन उसकी अभिव्यक्ति कथित है।[2]

इसीलिए निर्गुण एवं अचिन्त्य परब्रह्म के कथन में श्रुतिवाक्यों में 'न' अव्यय का इतना बाहुल्य दृष्टिगोचर होता है। 'बृहदारण्यक' के अनुसार ब्रह्म अस्थूल न अणु अह्रस्व तथा अदीर्घ है।[3] वह अपूर्व अनपर अनन्तर और अबाह्य है।[4] ब्रह्म अगृह्य अर्थ में असङ्ग और असित है।[5] 'तैत्तिरीयोपनिषद्' में परब्रह्म को अदृश्य अशरीर एवं अनिर्वाच्य कहा गया है।[6] 'मुण्डकोपनिषद्' में भी ब्रह्म को अदृश्य अग्राह्य अगोचर अवर्ण निर्दिष्ट किया गया है।[7] 'कठोपनिषद्' निर्गुण एवं निर्विशेष परब्रह्म को अशब्द अस्पर्श अरूप अव्यय अरस अनादि अनन्त उद्घोषित करता है। यही परब्रह्म का सच्चा स्वरूप है।

इस प्रकार उपनिषदों में वर्णित परब्रह्म निरुपाधि है। परब्रह्म देशकाल एवं निमित्त सभी उपाधियों से नितान्त विरहित है। वह देशातीत कालातीत एवं निमित्तातीत है। प्रमाणातीत होने से परब्रह्म नित्य अप्रमेय है। चैतन्यात्मक होने से परब्रह्म स्वयं विषयी है। अतः वह किसी भी प्राणी के अन्तःकरण का विषय कदापि नहीं हो सकता। ब्रह्म को अशब्द अरस इत्यादि कहने का तात्पर्य यही है कि वह शब्दस्पर्शादि के तुल्य विषय नहीं हो सकता। परमब्रह्म निष्कल निस्सीम अनन्त

---

१ स होवाचैतद् वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तरमबाह्यं न तदश्नाति किंचन न तदश्नाति कश्चन ॥

—बृहदारण्यकोपनिषद् ३ । ८ । ८

२ स एष नेति नेतीति व्याख्यातं निह्नुते यतः ।
सर्वमग्राह्यभावेन हेतुनाजं प्रकाशते ॥

—माण्डूक्योपनिषद् ३ । २६ ।

३ बृहदारण्यकोपनिषद्, ३ । ८ । ८ ।
४ ” २ । ५ । १९ ।
५ ” ३ । ९ । २६ ।
६ तैत्तिरीयोपनिषद् २ । ७ । १ ।
७ मुण्डकोपनिषद् १ । १ । ६ ।
८ कठोपनिषद्, १ । ३ । १५ ।

शक्तिर्विविधैव श्रूयते' अर्थात् ब्रह्म की पराशक्ति नाना प्रकार की कही जाती है।[1] अतएव उपनिषदों के अनुसार अनेकत्व एवं नानात्व ही माया है।

उपनिषदों की माया स्वतन्त्र या स्वयंभू नहीं है। वह ब्रह्म की सृष्टि कार्योत्पादक आधीनस्थ शक्ति है। श्वेताश्वतरोपनिषद में 'देवात्म शक्ति स्वगुणैर्निगूढाम्'[2] के द्वारा 'अपने गुणों से आच्छादित परमात्मा की शक्ति' के रूप में ब्रह्म की आधीनस्थ शक्ति माया का वर्णन किया गया है। इस प्रकार माया ब्रह्म की शक्ति या नानात्मकारिणी *क्रियाशक्ति है। वह ब्रह्म से भिन्न या स्वतन्त्र शक्ति—तत्व नहीं है।* श्वेताश्वतरोपनिषद में ही कहा गया है कि 'विनाशशील प्रधान या माया को ईश्वर (परमात्मा) देव नियमित करता है।'[3] यहाँ भी प्रधान या माया को ब्रह्म के नियन्त्रण में रहने वाली शक्ति ही प्रतिपादित किया गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि माया की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। यह ब्रह्म की क्रियाशक्ति है और उसके अधीन रह कर ही सृष्टि कार्य करती है।

प्रारम्भ में हमने प्रतिपादित किया है कि अद्वय ब्रह्म अपनी शक्ति या माया के द्वारा अनेकरूप भासता है। एक परब्रह्म पर अनेकरूप माया का आच्छादन पड़ जाने से अद्वैत का परिहार एवं द्वैत का भाव होने लगता है। अतएव द्वैत परमार्थतः नहीं है वह मायाकृत है। माण्डूक्योपनिषद में कहा गया है कि यह द्वैत तो माया मात्र है, परमार्थतः तो अद्वैत ही है।[4] वस्तुतः परमार्थ सत् अद्वैत है यह तिमिरदोष से प्रतीत होने वाले अनेक चन्द्रमा और सर्प—धारादि भेदों से विभिन्न दृष्टिगत होने वाली रज्जु के समान माया से ही भेद युक्त प्रतीत होता है, परमार्थतः नहीं क्योंकि आत्मा निरवयव है। इस प्रकार अज और अद्वय आत्मतत्व माया से ही भेद को प्राप्त होता है। इसी को माण्डूक्योपनिषद में 'मायया भिद्यते ह्येतन्नान्यथाजं कथञ्चन'[5] अर्थात् 'इस अजन्मा अद्वैत में माया ही के कारण भेद है और किसी प्रकार नहीं' के द्वारा व्यक्त किया गया है। अतएव उपनिषदों में द्वैताभास एवं भेदबुद्धि उत्पन्न करने वाली शक्ति के रूप में भी माया का वर्णन किया गया है।

---

१ श्वेताश्वतरोपनिषद् ६ । ८ ।
२ „ १ । ३ ।
३ क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः
क्षरात्मानावीशते देव एकः ।
—श्वेताश्वतरोपनिषद् १ । १ ।
४ मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः ॥
—माण्डूक्योपनिषद् १ । १७ ।
५. माण्डूक्योपनिषद् ३ । १९ ।

उपर्युक्त पंक्तियों में उपनिषदों में प्रतिपादित माया की मुख्य विशेषताओं की चर्चा की गई। इसके अतिरिक्त माया सम्बन्धी कुछ सामान्य वर्णन भी उपनिषदों में प्राप्त है। उदाहरणार्थ प्रकृति ही माया है[1] यह अपने अनुरूप बहुत सी प्रजा उत्पन्न करती है[2] प्रकृति रूप माया भोक्ता जीव के निमित्त भोग्य सम्पादन करती है[3] माया अविद्यमान वस्तु का नाम है[4] इत्यादि। 'श्वेताश्वतरोपनिषद' में ब्रह्म चिन्तन से माया की निवृत्ति निर्दिष्ट है।[5]

जीवात्मा

उपनिषदों के अनुसार जीव ब्रह्म ही है। 'बृहदारण्यकोपनिषद' में कहा गया है कि पुरुष जन्म लेते समय शरीर को आत्म भाव से प्राप्त होता हुआ पापों से (देह और इन्द्रियों से) संश्लिष्ट हो जाता है तथा मृत्यु के समय पापों को त्याग देता है।[6] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शरीरी आत्मा जीव है एवं अशरीरी आत्मा ब्रह्म है। 'छान्दोग्योपनिषद' में 'जीवेनात्मनानुप्रविश्य'[7] अर्थात् जीव आत्मा से ओतप्रोत है के द्वारा जीव को परमार्थतः ब्रह्म ही प्रतिपादित किया गया है। 'ऐतरेयोपनिषद' में भी कहा गया है कि 'उत्पन्न हुए उस परमेश्वर ने भूतों को ग्रहण किया।[8] इसका अभिप्राय यह है कि शरीर में प्रवेश करके जीव रूप से उत्पन्न हुए परमेश्वर ने भूतों का तादात्म्य भाव से ग्रहण किया। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि ब्रह्म गुणों में बद्ध कर जीवात्मा कहलाता है और बोध होने पर पुनः निजस्व-रूप अर्थात् नित्य शुद्धबुद्धस्वरूप हो जाता है। 'श्वेताश्वतरोपनिषद' में भी कहा

---

१ श्वेताश्वतरोपनिषद् ४।१।
२ " ४।५।
३ " १।९।
४ माण्डूक्योपनिषद् ४।५८।
५ तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्
 भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥
 —श्वेताश्वतरोपनिषद् १।१।
६ स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसम्पद्यमानः पाप्मभि
 संसृज्यते स उत्क्रामन् म्रियमाणः पाप्मनो विजहाति ॥
 —बृहदारण्यकोपनिषद् ४।३।८।
७ छान्दोग्योपनिषद् ६।११।१।
८ स जातो भूतान्यभिव्यैख्यत् किमिहान्यं वावदिषदिति।
 —ऐतरेयोपनिषद् १।३।१३।

गया है कि सम्पूर्ण स्थावर जंगम का स्वामी यह हंस (परमात्मा) देहाभिमानी होकर नवद्वार वाले (देहरूप) पुर मे बाह्य विषयों को ग्रहण करने के लिए चेष्टा किया करता है ।[1] इससे भी यह प्रमाणित होता है कि आत्मा या ब्रह्म देह-बन्धन मे पड़कर जीव या जीवात्मा उपाधि धारण करता है । 'कठोपनिषद' मे भी देहस्थ आत्मा को ही जीवात्मा की उपाधि प्रदान की गई है ।[2]

जीवात्मा के बन्धन का कारण अविद्या है । 'श्वेताश्वतरोपनिषद' मे कहा गया कि मायाधीन जीव भोक्तृभाव के कारण बन्धन मे पड़ता है । अविद्या माया अथवा अज्ञान के कारण बन्धन मे पड़कर जीव कर्मानुसार गति प्राप्त करता है । 'बृहदारण्यकोपनिषद्' मे कहा गया है कि पुरुष पुण्य कर्म से पुण्यात्मा होता है और पापकर्म से पापी होता है ।[4] इसका अभिप्राय यह है कि जीव कर्मानुसार देह धारण करता है । 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' मे भी कहा गया है कि जीवात्मा अपने गुणो (पाप पुण्यो) के द्वारा स्थूल-सूक्ष्म बहुत से देह धारण करता है । तत्पश्चात् उन (शरीर) के कर्मफल और मानसिक संस्कारों के द्वारा उनके संयोग (देहान्तर प्राप्ति) का दूसरा हेतु भी देखा गया है ।[5] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवात्मा कर्मफल भोक्ता है और कर्मफल प्राप्त करने के लिए एक मरणधर्मा शरीर त्यागकर दूसरा शरीर प्राप्त करता है । व्यावहारिक रूप मे इसे ही जीव का मरण और पुनर्जन्म कहते है । वस्तुतः नाश जीवात्मा का नही शरीर का होता है । इसीलिए 'छान्दोग्योपनिषद्' मे कहा गया है कि जीव रहित होने पर यह शरीर मर जाता है, जीव नही मरता ।[6] इसी उपनिषद् मे बन्धन

---

१ नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः ।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ॥
—श्वेताश्वतरोपनिषद् ३ । १८ ।

२ कठोपनिषद् शांकर भाष्य पृ ११०—१११

३ अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावात् ।
—श्वेताश्वतरोपनिषद् १ । ८ ।

४ पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन ।
—बृहदारण्यकोपनिषद् ४ । ४ । ५ ।

५. स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव
रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति ।
क्रिया गुणैरात्मगुणैश्च तेषां
संयोग हेतुरपरोऽपि दृष्टः ॥
—श्वेताश्वतरोपनिषद् ५ । १२ ।

६ जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियत इति ।
—छान्दोग्योपनिषद् ६ । ११ । ३ ।

कहा गया है कि मृत शरीर अमर आत्मा का अधिष्ठान है।[1] इससे स्पष्ट हो जाता है कि जीवात्मा परमार्थतः अविनाशी है। कर्मफल के लिये जब वह एक शरीर छोड़कर दूसरा शरीर धारण करता है तब पंचभूतात्मक शरीर ही मरता है।

इस प्रकार यह प्रमाणित होता है कि उपनिषदों में अविद्या या अज्ञान को जीव के बन्धन का कारण निर्दिष्ट किया गया है। इस बन्धन से निवृत्ति ज्ञान के द्वारा प्राप्त होती है। 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' में कहा गया है कि मायाधीन जीव भोक्तृभाव के कारण बन्धन में पड़ता है और परमात्मा का ज्ञान होने पर समस्त पाशों से मुक्त हो जाता है।[2] 'माण्डूक्योपनिषद्' में भी प्रतिपादित है कि जिस समय अनादि माया से सोया हुआ जीव जागता है अर्थात् तत्त्वज्ञान प्राप्त करता है उसी समय उसे अज अनिद्र और स्वप्नरहित अद्वैत आत्मतत्त्व का बोध प्राप्त होता है।[3] वस्तुतः अभेद ज्ञान दृष्टि से प्राप्त यह अवस्था ही जीवात्मा का मोक्ष रूप है जब वह शुद्धबुद्धमुक्त नित्यस्वरूप में स्थित होता है।

जगत्

ब्रह्म की नाम रूप के योग से अभिव्यक्ति जगत है। उपनिषदों में जगत का कारण मूल तत्त्व ब्रह्म निर्दिष्ट है। 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में आत्मा या ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति को दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार ऊर्णनाभि या मकड़ा तन्तुओं पर ऊपर की ओर जाता है तथा जैसे अग्नि से अनेकों क्षुद्र चिनगारियाँ उड़ती हैं उसी प्रकार इस आत्मा से समस्त प्राण 'समस्त लोक' समस्त देवगण और समस्त भूत विविध रूप से उत्पन्न होते हैं।[4] 'छान्दोग्योपनिषद्' में सत् स्वरूप ब्रह्म

---

१ मघवन्मर्त्यं वा इदं शरीरमात्तं मृत्युना तदस्यामृतस्याशरीरस्यात्मनोऽधिष्ठानम्।
—छान्दोग्योपनिषद् ८।१२।१।

२ अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावात्–
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥
—श्वेताश्वतरोपनिषद् १।८।

३ अनादि मायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा॥
—माण्डूक्योपनिषद् १।१६।

४ स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद्यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति।
बृहदारण्यकोपनिषद्, २।१।२०।

से जगत् की उत्पत्ति वर्णित है।[1] मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि जिस प्रकार मकड़ी जाले को बनाती है जैसे पृथ्वी में औषधियां उत्पन्न होती हैं और जैसे सजीव पुरुष से केश एवं लोम उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार अक्षर ब्रह्म से यह विश्व प्रकट हुआ करता है।[2] 'तैत्तिरीयोपनिषद्' में 'ततो वै सदजायत'[3] के द्वारा अव्याकृत ब्रह्म से नामरूपात्मक व्यक्त जगत् की उत्पत्ति कही गई है। 'कठोपनिषद्' में कहा गया है कि सम्पूर्ण जगत् प्राण-ब्रह्म में उदित होकर उसी से चेष्टा कर रहा है।[4] 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' में 'कारण ब्रह्म'[5] एवं 'जगन्मैव एक'[6] के द्वारा एक मात्र ब्रह्म को जगत् का कारण तथा विराट् को उत्पन्न करने वाला कहा गया है। इससे यह भलीभांति प्रमाणित हो जाता है कि जगत् का कारण ब्रह्म है और यह नामरूपात्मक स्थूल जगत् सूक्ष्म 'सत्' या ब्रह्म से ही उत्पन्न हुआ है। इसकी स्थिति का आधार भी ब्रह्म ही है।

उपनिषदों में चराचर जगत् को ब्रह्मरूप कहा गया है। 'छान्दोग्योपनिषद्' में 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'[7] के द्वारा प्रतिपादित किया गया है कि सारा जगत् निश्चय ही ब्रह्म है। 'मुण्डकोपनिषद्' में कहा गया है कि 'ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्'[8] अर्थात् यह सम्पूर्ण जगत ब्रह्म ही है। इससे यह प्रकट होता है कि उपनिषद् इस नामरूप-विशिष्ट दृश्यमान जगत् को ब्रह्म या सत् रूप मानते हैं। किन्तु 'माण्डूक्योपनिषद्' में समस्त नाम रूप जगत् को स्वप्न और माया के समान कहा गया है।[9] इसी उपनिषद् में अन्यत्र कहा गया है कि जिस प्रकार स्वप्न और माया देखे गए हैं तथा जैसे गन्धर्व

---

१ छान्दोग्योपनिषद् ६।२।३।

२ यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च
यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि
तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्॥
—मुण्डकोपनिषद् १।१।७।

३ तैत्तिरीयोपनिषद् २।७।१।

४ यदिदं किं च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।
—कठोपनिषद्, २।३।२।

५. श्वेताश्वतरोपनिषद् १।१।

६ " ६।१।

७. छान्दोग्योपनिषद् ३।१४।१।

८ मुण्डकोपनिषद् २।२।११।

९. स्वप्नमायासरूपेति सृष्टिरन्यैर्विकल्पिता॥
—माण्डूक्योपनिषद्, १।७।

नगर माना गया है उसी प्रकार विचक्षण पुरुषों ने वेदान्तों में इस जगत् को देखा है।[1] इससे यह ज्ञात होता है कि उपनिषद् जगत को स्वप्नवत् असार और माया के समान मिथ्या भी मानते हैं। इन परस्पर विरोधी मतों में वास्तव में कोई विरोध नहीं है। ब्रह्म सृष्टि करता है इसलिए सृष्टि सत् स्वरूप है। किन्तु सृष्टि के सब नामरूप नामात्मकवर्ती परिवर्तनशील विनाशशील एवं अनित्य हैं। 'एक' के विपरीत नानारूप 'अविनाशी' के विपरीत विनाशी और 'नित्य तत्त्व' के विपरीत होने के कारण ही जगत् असार और मिथ्या है। अन्यथा जगत् ब्रह्मकृत सत् स्वरूप है। 'कठोपनिषद्' में जहाँ जगत् भावना ऊर्ध्व मूल अधः शाखा अश्वत्थ वृक्ष के रूप में प्रकट हुई है, वहाँ भी जगत् को ब्रह्मरूप ही कहा गया है।[2]

इस प्रकार उपनिषद् जगत् की उत्पत्ति ब्रह्म से निर्दिष्ट करते हैं एवं जगत् को ब्रह्म की अभिव्यक्ति मानते हैं। उपनिषदों के अनुसार जगत् की उत्पत्ति ब्रह्म से होती है और उसी में जगत का लय होता है। 'छान्दोग्योपनिषद्' में कहा गया है कि यह सारा जगत् निश्चय ब्रह्म ही है यह उसी से उत्पन्न होने वाला उसी में लीन होने वाला और उसी में चेष्टा करने वाला है।[3] 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' में भी कहा गया है कि सृष्टि के प्रारम्भ में परब्रह्म एक और निर्विशेष होकर भी अपनी शक्ति के द्वारा बिना किसी प्रयोजन के ही नाना प्रकार के अनेकों वर्ण धारण करता है तथा अन्त में उसी में विश्व लीन हो जाता है।[4] 'सृष्टिक्रम' के प्रसंग में 'तैत्तिरीयोपनिषद्' के अनुसार जगत

---

१ स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा ।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः ॥
—माण्डूक्योपनिषद्, २।३१।

२ ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ।
एतद्वै तत् ॥
—कठोपनिषद् २।३।१।

३ सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति ।
—छान्दोग्योपनिषद् ३।१४।१।

४ य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगात्
वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति ।
वि चैति चान्ते विश्वमादौ स देवः
स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥
—श्वेताश्वतरोपनिषद् ४।१।

रचना आकाश वायु अग्नि जल और पृथ्वी के क्रम से निर्दिष्ट है एवं 'वेदान्त सूत्रों' के आधार पर सृष्टि के सम क्रम की चर्चा भी की गई है। अतएव यहां उसकी आवृत्ति अनावश्यक है।

सृष्टि क्रम

उपनिषदों में सृष्टि क्रम अनेक रूप में वर्णित है। 'छान्दोग्योपनिषद' में कहा गया है कि प्रारम्भ में एकमात्र अद्वितीय सत् था।[1] उस सत् ने ईक्षण किया कि मैं बहुत हो जाऊं अर्थात् अनेक प्रकार से उत्पन्न होऊं। इस प्रकार ईक्षण द्वारा उसने तेज उत्पन्न किया।[2] तेज के ईक्षण से जल की उत्पत्ति हुई,[3] जल के ईक्षण से अन्न उत्पन्न हुआ।[4] 'ऐतरेयोपनिषद्' में सृष्टि के प्रारम्भ में एकमात्र आत्मा का उल्लेख है एवं उसके ईक्षण द्वारा सृजन की चर्चा है।[5] इसी में कहा गया है कि उस आत्मा ने अम्भ मरीचि मर और अप लोकों की रचना की।[6] ईक्षण द्वारा लोक सृष्टि के उपरान्त उसने लोकपाल की रचना की।[7] तत्पश्चात् मुख वाक्, नासिका प्राण वायु, नेत्र कर्ण त्वचा लोम आदि के क्रमशः उत्पत्ति क्रम का वर्णन है।[8] 'मुण्डकोपनिषद्' में वर्णित सृष्टिक्रम उपर्युक्त सृष्टिक्रम से नितान्त भिन्न है। इसमें ब्रह्म से अन्न अन्न से क्रमशः प्राण मन सत्य लोक कर्म एवं कर्मफल की उत्पत्ति का वर्णन

---

१ सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ॥

—छान्दोग्योपनिषद् ६ । २ । २ ।

२ तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत ।

—छान्दोग्योपनिषद् ६ । २ । ३ ।

३ तत्तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तदपोऽसृजत ।

—छान्दोग्योपनिषद्, ६ । २ । ३ ।

४ ता आप ऐक्षन्त बह्व्यः स्याम प्रजायेमहीति ता अन्नम सृजन्त ।

—छान्दोग्योपनिषद् ६ । २ । ४

५. ॐ आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् । स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति ॥

—ऐतरेयोपनिषद्, १ । १ । १ ।

६ स इमाँल्लोकानसृजत । अम्भो मरीचीर्मरमापोऽदोऽम्भः परेण दिवं द्यौः प्रतिष्ठाऽन्तरिक्षं मरीचयः पृथिवी मरो या अधस्तात्ता आपः ॥

—ऐतरेयोपनिषद् १ । १ । २ ।

७ स ईक्षतेमे नु लोका लोकपालान्नु सृजा इति सोऽद्भ्य एव पुरुषं समुद्धृत्यामूर्छयत् ॥

—ऐतरेयोपनिषद् १ । १ । ३ ।

८. ऐतरेयोपनिषद् १ । १ । ४ ।

है।[1] प्रश्नोपनिषद्' में इसमें कुछ भिन्न सृष्टि क्रम वर्णित है। इसमें पुरुष के द्वारा प्राण श्रद्धा आकाश वायु, तेज जल पृथ्वी इन्द्रिय मन अन्न वीर्य तप मंत्र कर्म लोक एवं नाम की क्रमशः उत्पत्ति का उल्लेख है।[2]

छान्दोग्य ऐतरेय मुण्डक एवं प्रश्नोपनिषद् में वर्णित उपर्युक्त सृष्टि—क्रम एक दूसरे से भिन्न है। किन्तु सृष्टि के कारण मूल तत्त्व के सम्बन्ध में इनका एक मत है। ये उपनिषद् समान रूप से सृष्टि के प्रारम्भ में एक मात्र ब्रह्म या आत्मा को ही मानते हैं। सृष्टि—क्रम सम्बन्धी इनकी विभिन्नता पर विचार करके 'वेदान्त सूत्र' में अन्तिम निर्णय यह दिया गया है कि आत्मरूपी मूल ब्रह्म से आकाश आदि पञ्चमहाभूत क्रमशः उत्पन्न हुए।[3] सृष्टि का यह क्रम 'तैत्तिरीयोपनिषद्' में वर्णित है। तैत्तिरीयोपनिषद्' में आत्मरूपी ब्रह्म से आकाश आकाश से वायु वायु से अग्नि अग्नि से जल जल से पृथ्वी पृथ्वी से औषधियाँ औषधियों से अन्न और अन्न से पुरुष की उत्पत्ति का वर्णन किया गया।[4] वस्तुतः यह सृष्टि क्रम ही समीचीन है क्योंकि इसमें सूक्ष्म से क्रमशः स्थूल का प्रतिपादन करते हुए रचना-क्रम बताया गया है। सूक्ष्म तत्त्व का क्रमशः स्थूल में परिणत होना ही सृष्टि-प्रक्रिया है। इस दृष्टि से तैत्तिरीयोपनिषद् का सृष्टि-क्रम मान्य है। हम उल्लेख कर चुके हैं कि महर्षि बादरायण ने भी तैत्तिरीयोपनिषद् के इस क्रम को ही वेदान्त सूत्रों में मान्यता प्रदान की है।

---

१ तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते।
अन्नात्प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम्॥

—मुण्डकोपनिषद् १।१।८।

२ स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोका लोकेषु च नाम च॥

—प्रश्नोपनिषद् ६।४।

३ वेदान्त सूत्र २।३।१-१२।

४ तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात्पुरुषः।

—तैत्तिरीयोपनिषद् २।१।१।

इस आधार पर उपनिषदों में मान्य सृष्टि-क्रम की क्रम रेखा निम्नलिखित है—

आत्मा (ब्रह्म)
|
आकाश
|
वायु
|
अग्नि
|
जल
|
पृथ्वी
|
औषधि
|
अन्न
|
पुरुष

इस क्रम रेखा से सृष्टि के कारण मूलतत्त्व ब्रह्म एवं उसके ईक्षण द्वारा सृष्टि प्रक्रिया के क्रम का स्पष्ट परिचय प्राप्त हो जाता है।

जीवन्मुक्ति

उपनिषदों में पुरुष की ब्राह्मी स्थिति अथवा 'जीवन्मुक्ति' का वर्णन उपलब्ध है। 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में कहा गया है कि अकाम निष्काम आप्तकाम और आत्मकाम पुरुष के प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता वह ब्रह्म (मग्न) ही रहकर ब्रह्म को प्राप्त होता है।[1]

---

१. अकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति ॥ —बृहदारण्यकोपनिषद् ४।४।६।

ब्रह्मनिष्ठ निष्काम पुरुष को मुक्ति के निमित्त किसी दूसरे स्थान में जाने या देहपात होने की अपेक्षा नहीं होती क्योंकि वह नित्य ब्रह्मभूत है। जिसने ब्रह्म स्वरूप को पहचान लिया वह स्वयं यहीं का यहीं इसी लोक में ब्रह्म हो जाता है। 'मुण्डकोपनिषद्' में 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'[1] के द्वारा यही प्रतिपादित किया गया है कि ब्रह्मवेत्ता इसी लोक में रहते हुए ब्रह्म हो जाता है।

एक का दूसरे के पास जाना तभी संभव है जब दोनों के मध्य स्थानकृत एवं कालकृत भेद हो। यह भेद पुरुष की ज्ञानी स्थिति में अथवा अद्वैतावस्था में नहीं रह जाता। अतएव मुक्ति के निमित्त उसे किसी अन्य लोक में जाने की आवश्यकता नहीं होती। वस्तुतः ब्रह्मनिष्ठ पुरुष तो स्वयं ब्रह्म है। जिसके मन की ऐसी स्थिति हो चुकी है कि 'अहं ब्रह्मास्मि'[2] 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'[3] 'यस्य सर्वमात्मैवाभूत्'[4] उस ब्रह्म प्राप्ति के लिए अन्यत्र किस हेतु जाना होगा। वह ज्ञानी पुरुष तो लोक में रहते हुए ही ब्रह्म-ज्ञान की चरमावधि आत्मदर्शन-को प्राप्त कर लेता है। यही उसकी जीवन्मुक्ति है।

'कठोपनिषद्' में भी जीवन्मुक्ति का वर्णन किया गया है। इसमें कहा गया है कि जिस समय जीव की सम्पूर्ण कामनाएं छूट जाती हैं उस समय वह मरणधर्मा प्राणी अमर हो जाता है और इस शरीर में ही ब्रह्म भाव को प्राप्त हो जाता है।[5] यहां भी निष्काम पुरुष के आत्मज्ञान द्वारा इस शरीर में रहते हुए ही ब्रह्म प्राप्ति की चर्चा की गई है। कठोपनिषद् में ही कहा गया है कि इस जीवन में ही हृदय की सम्पूर्ण ग्रन्थियों के छेदन से मरणधर्मा पुरुष अमर हो जाता है।[6] वस्तुतः जीवित अवस्था में हृदय की सम्पूर्ण ग्रन्थियों अर्थात् दृढ़ बन्धन रूप अविद्याजनित प्रतीतियों के ज्ञान द्वारा छिन्न भिन्न होने पर पुरुष मुक्त हो जाता है। यही जीवन्मुक्ति है। इसी का प्रतिपादन उपर्युक्त पदों में किया गया है।

---

१ मुण्डकोपनिषद्, ३।२।९।

२ बृहदारण्यकोपनिषद् १।४।१०।

३ छान्दोग्योपनिषद् ३।१४।१।

४ बृहदारण्यकोपनिषद् २।४।१४।

५. यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥
—कठोपनिषद् २।३।१४।

६ यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम्॥
—कठोपनिषद् २।३।१५।

मन

प्राणी जिससे मनन करता है उस अन्तःकरण को मन कहते हैं। उपनिषदों में मन का वर्णन किया गया है। 'बृहदारण्यकोपनिषद' में मनो वै आयतनम्[1] के द्वारा मन को इन्द्रियों और विषयों का आयतन या आश्रय कहा गया है। यहाँ अभिप्राय यह है कि मन के आश्रित रहकर ही विषय आत्मा के भोग्यत्व को प्राप्त होते हैं एवं मन के संकल्प के आधीन ही इन्द्रियाँ अपने अपने विषयों में प्रवृत्त और उनसे निवृत्त होती हैं अतः मन विषयों और इन्द्रियों का आयतन है। 'छान्दोग्य' में मनो हिंकारो[2] द्वारा कहा गया है कि सम्पूर्ण इन्द्रियों में मन प्रथम है। इस पर टीका करते हुए शंकराचार्य ने कहा है कि 'सम्पूर्ण इन्द्रिय वृत्तियों में मन की प्रथमता होने के कारण मन हिंकार है।[3] 'छान्दोग्योपनिषद्' में ही योऽणिमैतदात्म्यम्[4] के वर्णन से मन की अत्यन्त सूक्ष्मता की भावना प्रकट की गई है। वस्तुतः इन्द्रियों की तुलना में मन अत्यन्त सूक्ष्म होता है।

उपनिषदों में मन के संकल्प—विकल्पात्मक स्वरूप की चर्चा भी की गई है। संकल्प का अभिप्राय कल्पना करना, मनन करना, समझना, योजना करना, इच्छा करना, चिन्ता करना, मन में लाना इत्यादि है। विकल्प में 'यह बात ऐसी नहीं है' अर्थात् विरुद्ध कल्पना होती है। 'बृहदारण्यकोपनिषद' में मन को समस्त संकल्पों का अयन या स्थान कहा गया है।[5] इसी उपनिषद में अन्यत्र मनोज्योति[6] अर्थात् मन ज्योति द्वारा संकल्प—विकल्प का साधन निर्दिष्ट किया गया है। इसकी व्याख्या करते हुए शंकराचार्य ने कहा है कि जो मनरूप ज्योति से संकल्प विकल्पादि कार्य करता है, वह मनोज्योति है।[7] मन के संकल्प विकल्पादि कार्य ही उसके यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं। 'यह बात ऐसी है अथवा 'यह बात ऐसी नहीं है' यही मन की संकल्प—विकल्पता है और मन इसी का सम्पादन करता है।

---

१ बृहदारण्यकोपनिषद् ६ । १ । ५ ।
२ छान्दोग्योपनिषद्, २ । ११ । १ ।
३ मनो हिंकारो मनस सर्वकरणवृत्तीना प्राथम्यात् ।
—छान्दोग्योपनिषद् शांकर भाष्य पृ १८७
४ छान्दोग्योपनिषद्, ६ । ५ । १ ।
५. सर्वेषा संकल्पाना मन एकायनमेव
—बृहदारण्यकोपनिषद्, २ । ४ । ११ ।
६ बृहदारण्यकोपनिषद्, ३ । ९ । १ ।
७ बृहदारण्यकोपनिषद्, शांकर भाष्य पृ ७९२

'बृहदारण्यकोपनिषद्' में मन के अनेक गुणों या धर्मों की चर्चा की गई है। इसमें कहा गया है कि काम संकल्प विचिकित्सा, श्रद्धा अश्रद्धा धृति (धारणा शक्ति) अधृति ह्री धी भय ये सब मन ही हैं।[1] काम कामना या इच्छा है। संकल्प सम्मुखस्थ विषय की विशेष कल्पना है। विचिकित्सा संशय ज्ञान है। श्रद्धा आस्तिक्य-भाव एवं अश्रद्धा इसके विपरीत है। ह्री लज्जा और धी बुद्धि है। इसी प्रकार भय भी मन का भाव है। इस प्रकार उपनिषदों में मन को एक व्यापक अन्तःकरण स्वरूप में प्रतिपादित किया गया है। अतएव मन या अन्तःकरण अनेक धर्मा है।

अनेकवृत्तिप्रधान मन जीवात्मा को भव में भ्रमित करता है। मन की कल्पनाओं और रचनाओं में पड़कर जीवात्मा यथार्थ स्वरूप को न पहचानने के कारण बन्धन में पड़ता है। किन्तु साधना द्वारा मन की चंचलता और अस्थिरता नष्ट होने पर यह मन ही ब्रह्मोन्मुख होकर जीव के परित्राण का साधन बन जाता है। मन के ब्रह्मोन्मुख होने को ही 'माण्डूक्योपनिषद्' में तत्त्वबोध में मन की अमनस्कता कहा गया है।[2] इस अमनी अवस्था में उसकी संकल्प विकल्प वृत्ति नहीं रहती। 'माण्डूक्योपनिषद्' में ही अन्यत्र कहा गया है कि जिस समय चित्त सुषुप्ति में लीन न हो और विक्षिप्त भी न हो तथा निश्चल और विषयाभास से रहित हो जाय उस समय वह ब्रह्म ही हो जाता है।[3] यही मन या चित्त की निर्विषयता एवं निरात्मत्वमुखता है। 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में भी 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्'[4] के द्वारा यही प्रतिपादित किया गया है कि परमार्थ ज्ञान के संस्कार युक्त हुए मन से ही ब्रह्म को देखना चाहिये। इस प्रकार संकल्प-विकल्परहित विषयवृत्तिविवर्जित परमार्थ ज्ञान युक्त मन ही ब्रह्मोन्मुख होकर जीव के परित्राण का साधन बन जाता है।

काल

उपनिषदों में काल तत्त्व का 'मृत्यु' रूप में उल्लेख कई बार किया गया है। ये उल्लेख प्रासंगिक एवं संक्षिप्त हैं और इनके द्वारा व्यापक काल भावना का प्रतिपादन

---

१ कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन।
—बृहदारण्यकोपनिषद् १।५।३।

२ आत्मसत्यानुबोधेन न संकल्पयते यदा।
अमनस्तां तदा याति ग्राह्याभावे तदग्रहम्॥
—माण्डूक्योपनिषद् ३।३२।

३ यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः।
अनिङ्गनमनाभासं निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा॥
—माण्डूक्योपनिषद् ३।४६।

४ बृहदारण्यकोपनिषद् ४।४।१९।

नहीं होता। तथापि 'मृत्यु' को सर्वभक्षक इत्यादि निर्दिष्ट करके उसका काल रूप व्यापक प्रभाव अंकित करने की चेष्टा की गई है। 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में कहा गया है कि 'यदिदं सर्वं मृत्योरन्नं'[1] अर्थात् यह जो है सब मृत्यु का खाद्य है। यहाँ सम्पूर्ण दृश्य सृष्टि को मृत्यु का खाद्य बताकर उसे सर्वभक्षक ज्ञापित किया गया है। 'छान्दोग्योपनिषद्' में देवताओं को भी मृत्यु के अधीन अंकित किया गया है।[2] 'कठोपनिषद्' में मृत्यु के प्रतीक यमराज की चर्चा है। इसमें यमभावना द्वारा मृत्यु का प्रतिपादन किया गया है।[4] यह यम ही साक्षात् मृत्यु या काल है जिससे परित्राण पाने के लिये उपनिषदों में कर्मत्याग कर ब्रह्मोन्मुख होने का प्रस्ताव किया गया है।[5]

कर्म

कर्म कार्य-व्यापार या क्रिया को कहते हैं। उपनिषदों में वैदिक कर्मकाण्ड के सम्बन्ध में कर्म विधेय है[6] किन्तु ज्ञान या ब्रह्मज्ञान के सम्बन्ध में कर्म ग्राह्य नहीं है। 'कठोपनिषद्' में कहा गया है कि कर्म फल से नित्य तत्त्व नहीं मिलता है।[7] इसका अभिप्राय यह है कि कर्म से तदनुसार फल प्राप्त होता है किन्तु आत्मोपलब्धि नहीं होती है। 'प्रश्नोपनिषद्' में कहा गया है कि पुण्य कर्म के द्वारा पुण्य लोक पाप के द्वारा पाप लोक तथा मिश्रित कर्म से मनुष्य लोक प्राप्त होता है।[8] 'मुण्डकोपनिषद्' में कहा गया है कि कर्मियों को कर्मफल में राग के कारण नित्य तत्त्व का ज्ञान नहीं होता इसलिये वे दुःखार्त होकर (कर्मफल क्षीण होने पर) स्वर्ग से च्युत हो जाते हैं।

---

१ बृहदारण्यकोपनिषद् १।२।१।

२ देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशन् स्ते।
—छान्दोग्योपनिषद् १।४।२।

३ कठोपनिषद् १।१।७।

४ १।१।१।

५. छान्दोग्योपनिषद् १।४।३।

६ बृहदारण्यकोपनिषद् १।३।११।

७ जानाम्यहं शेवधिरित्यनित्यं
न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्।
—कठोपनिषद्, १।२।१।

८. पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम् ॥
—प्रश्नोपनिषद् ३।७।

९ यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागा-
त्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥
—मुण्डकोपनिषद् १।२।९।

नित्य तत्त्व की प्राप्ति में बाधक होने के कारण ही 'ईशावास्योपनिषद्' में कर्मरूप अविद्या की उपासना करने वाले अर्थात् कर्मियों के अविद्यारूप अंधकार में प्रवेश की चर्चा की गई है।[1] इसीलिये 'मुण्डकोपनिषद्' में ज्ञानरहित कर्म की निन्दा करते हुये कहा गया है कि इससे जरा मरण ही प्राप्त होता है[2] अर्थात् पुनर्जन्म के द्वारा भवताप ही मिलता है।

इस प्रकार उपनिषद् कर्म को बन्धन या आवागमन का कारण मानते हैं और उसकी उपासना से तदनुकूल फल की व्यवस्था देते हैं। उपनिषदों का यह मन्तव्य है कि कर्म फल-प्रदाता है, किन्तु इससे आत्म लाभ नहीं होता है। आत्मोपलब्धि या ज्ञान दशा में कर्म रहते ही नहीं हैं इसीलिये 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में कहा गया है कि ब्रह्मज्ञ या ब्रह्मवेत्ता कर्मरहित होता है।[3] 'मुण्डकोपनिषद्' में ब्रह्म साक्षात्कार से कर्मनाश का प्रतिपादन करते हुये कहा गया है कि उस परावर ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेने पर इस जीव की हृदय ग्रंथि टूट जाती है सारे संशय नष्ट हो जाते हैं और कर्मक्षीण हो जाते हैं।[4] 'छान्दोग्योपनिषद्' 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' इत्यादि में भी ज्ञान अथवा ब्रह्म ज्ञान के द्वारा कर्मनाश का प्रतिपादन किया गया है। इससे जीव कर्म के बन्धन से मुक्त हो जाता है जिससे उसके आवागमन का कारण नहीं रहता।

ज्ञान

उपनिषदों में 'ज्ञान' का अभिप्राय आत्मज्ञान है। 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में कहा गया है कि आत्मा का जानना सब कुछ जानना है।[5] इसका अभिप्राय यह है कि आत्म ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है। समस्त उपनिषदों में से ज्ञान को ही जीव का समस्त ध्येय और श्रेय माना गया है। छान्दोग्य[6] तैत्तिरीय[7] श्वेताश्वतर,[8] मुण्डक[9] इत्यादि

---

१ ईशावास्योपनिषद् ९।
२ मुण्डकोपनिषद् १।२।७।
३ बृहदारण्यकोपनिषद् ४।४।११।
४ भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥
—मुण्डकोपनिषद्, २।२।८।
५ बृहदारण्यकोपनिषद् १।४।७।
६ छान्दोग्योपनिषद्, ४।१४।१।
७ तैत्तिरीयोपनिषद् २।१।१।
८ श्वेताश्वतरोपनिषद् १।८।
मुण्डकोपनिषद् २।२।८।

उपनिषदों में पुनः पुनः यही कहा गया है कि ज्ञान ही अध्यात्म की पराकाष्ठा है। 'ईशावास्योपनिषद्' मे 'विद्ययामृतमश्नुते'[१] के द्वारा विद्या या ज्ञान के द्वारा अमृत (आत्मा) प्राप्ति की चर्चा है।

ब्रह्मज्ञान आत्मज्ञान अथवा ज्ञान के द्वारा अज्ञान या अविवेक का नाश उपनिषदों का प्रतिपाद्य है 'बृहदारण्यकोपनिषद' के शांकर भाष्य मे कहा गया है कि 'ज्ञान का उदय होने पर अज्ञान जनित अनेकत्व भ्रम का नाश होता है'।[२] इसी ग्रन्थ मे अन्यत्र कहा गया है कि जिस प्रकार दीपक के रहने से अन्धकार नहीं रहता उसी प्रकार विद्या या ज्ञान के उदय होने पर अविद्या या अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है।[३] वस्तुतः आत्म ज्ञान एक ऐसा प्रदीप है जो निरन्तर प्रज्वलित रहता है। इस अनन्त ज्ञान रूपी प्रदीप को प्राप्त करना ही उपनिषदों का ज्ञान साध्य है।

'बृहदारण्यकोपनिषद' मे शास्त्राभ्यास या पुस्तकी ज्ञान को आत्मज्ञान की तुलना मे निम्न ठहराया गया है। इसमे कहा गया है कि बुद्धिमान ब्राह्मण को उसे (आत्मा) ही जानकर उसी मे प्रज्ञा करनी चाहिए। बहुत शब्दों का अनुध्यान न करे, वह तो वाणी श्रम ही है।[४] इससे यह प्रकट होता है कि उपनिषदों के अनुसार अधिक शास्त्राभ्यास ब्रह्मज्ञान मे सहायक नहीं होता। यह ठीक भी है क्योंकि आत्मज्ञान स्वानुभूति या अनुभव का विषय है शास्त्रज्ञान का आधिक्य उसमे सहायक नहीं हो सकता।

भक्ति

उपनिषद्—साहित्य मे 'भक्ति' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' मे किया गया है। इसमे कहा गया है कि जिस पुरुष की देवता मे उत्कृष्ट भक्ति होती है तथा देव के समान गुरु मे भी जिसकी भक्ति होती है उसी महात्मा को ये कहे गये अर्थ स्वतः प्रकाशित होते है।[५] मध्ययुगीन भक्ति मार्ग मे जिस प्रपत्ति भाव का बड़ा

---

१ ईशावास्योपनिषद् ११।

२ बृहदारण्यकोपनिषद् पृ २८

३ बृहदारण्यकोपनिषद् पृ २०२

४ तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः।
नानुध्यायाद् बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तदिति॥
—बृहदारण्यकोपनिषद्, ४।४।२१।

५. यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥
—श्वेताश्वतरोपनिषद् ६।२३।

मुमुक्षु माना गया है उसका स्पष्ट वर्णन 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' में किया गया है।[1] इसमें ब्रह्मा के भी निर्माण करने वाले तथा उनके लिए वेदों का निर्माण करने वाले तथा अपनी बुद्धि में प्रकाशित होने वाले भगवान् की शरण में जाने का वर्णन किया गया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि उपनिषदों में भक्ति का मूल रूप में संक्षिप्त उल्लेख उपलब्ध है।

योग

बृहदारण्यक छान्दोग्य श्वेताश्वतर कठ इत्यादि प्राचीन उपनिषदों में 'योग' का पुनः पुनः उल्लेख किया गया है। इन उपनिषदों में 'योग' शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।

१ दर्शन-विशेष के अर्थ में।

२ क्रियात्मक योग के अर्थ में।

'कठोपनिषद्' में 'योग' शब्द उपर्युक्त अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। दर्शन-विशेष या आत्म-दर्शन के अर्थ में 'योग' शब्द का प्रयोग करते हुए यमराज ने कहा है कि जब पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ मन सहित (आत्मा में) स्थिर होकर बैठती हैं एवं बुद्धि भी कोई चेष्टा नहीं करती उस अवस्था को परमगति कहते हैं। उस स्थिर इन्द्रिय धारणा को योग कहते हैं। उस अवस्था में साधक प्रमाद रहित हो जाता है क्योंकि योग ही उत्पत्ति एवं नाश रूप है।[2] यहाँ योग का अभिप्राय आत्मदर्शन है एवं यह साधक की अवस्था विशेष भी सूचित करता है। इस अवस्था को परमगति कहा गया है।

'कठोपनिषद्' में ही 'योग' शब्द का प्रयोग क्रियात्मक योग के लिये किया गया है। इसमें आत्म प्राप्ति के उद्देश्य से आत्मा को 'अध्यात्म योगाधिगम' द्वारा

---

१ यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
　　यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह　देवमात्मबुद्धिप्रकाशं
　　मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥
　　　　—श्वेताश्वतरोपनिषद् ६।१८।

२ यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥
　　　　—कठोपनिषद् २।३।१० ११।

के लिए उपयुक्त स्थान निर्दिष्ट करते हुए 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' में ही कहा गया है कि 'सम और शुचि कंकड़ियों से रहित आग और बालू से वर्जित तथा शब्द जल और आश्रय के द्वारा मन के अनुकूल लगने वाला वहाँ चक्षु को पीड़ा देने वाली कोई वस्तु न हो ऐसा तथा गुहा या एकान्त और निर्वात स्थान चुनकर वहाँ योगाभ्यास करे।'[1] 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' में क्रियात्मक योग के अन्तर्गत योगप्रवृत्ति के प्रथम लक्षणों की चर्चा करते हुए प्रतिपादित किया गया है कि शरीर का हल्का होना आरोग्य अलोलुपता वर्णों को प्रसन्नता देने वाली शरीर कान्ति मधुर स्वर, शुभ गन्ध मलमूत्र की न्यूनता लक्षण प्रथमा योगप्रवृत्ति के हैं।[2]

तप और ब्रह्मचर्य क्रियात्मक योग के मुख्य अंग हैं। तैत्तिरीयोपनिषद् भृगुवल्ली में तप द्वारा योगानुष्ठान से ही परमानन्द की प्राप्ति कही गई है।[3] इस प्रकार तैत्तिरीयोपनिषद् का भी योगानुष्ठान से अभिप्राय प्रकट होता है। ब्रह्मचर्य योग के पाँच प्रकार के यमों—अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह—में परिगणित है। छान्दोग्य अष्टम प्रपाठक में ब्रह्मचर्य धारण करने से ही ब्रह्म प्राप्ति का निर्णय देते हुए श्रुति कहती है कि जो इस ब्रह्म लोक को ब्रह्मचर्य साधन द्वारा प्राप्त करते हैं, उनकी सब स्थानों पर अव्याहत रूप से इच्छानुसार गति होती है।[4]

प्राणविद्या या प्राणोपासना योग का प्रमुख प्रतिपाद्य है। उपनिषदों में प्राणोपासना अनेक भावनाओं के द्वारा भिन्न भिन्न प्रकार से कही गयी है।[5] प्राचीन तथा पर

---

१ समे शुचौ शर्करावह्निवालुका-
 विवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः ।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने
 गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥
—श्वेताश्वतरोपनिषद् २ । १० ।

२ लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं
 वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च ।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं
 योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति ॥
—श्वेताश्वतरोपनिषद् २ । १३ ।

३ तैत्तिरीयोपनिषद् ३ । १-६ ।

४ तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष
ब्रह्मलोकस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ।
—छान्दोग्योपनिषद् ८ । ४ । ३ ।

५ छान्दोग्योपनिषद् १ । ११ । ५, ४ । ३ । ३-४ ५ । १ । ६-१५, ७ । १५ । १ ।
तथा श्वेताश्वतरोपनिषद् १ । ४-५ ।

दोनों उपनिषदों में समान रूप से मोक्ष के दो उपाय बताए गए हैं। मनोजय तथा प्राणजय। मनोजय वासनाओं के क्षीण होने से होता है किन्तु प्राणजय हो जाने से मनोजय अनायास सिद्ध हो जाता है। यही कारण है कि योग में प्राणायाम द्वारा प्राणजय इतना महत्वपूर्ण माना गया है। वस्तुतः प्राणजय योग-साधना का अनिवार्य अंग है। 'मुण्डकोपनिषद्' में कहा गया है कि प्रजाओं के प्राण सहित सम्पूर्ण चित्त में यह आत्मा व्याप्त है और विशुद्ध चित्त से ही विशेष रूप से प्रकट होता है।[1] 'कठोपनिषद्' में तो इस सम्बन्ध में प्राण एवं अपान वायु का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। इसमें मन्त्रकार ने कहा है कि जो प्राण को ऊपर भेजता है एवं अपान को नीचे फेंकता है। उस मध्य में रहने वाले वामन की विश्व देव भजते हैं।[2] योग के साम्प्रदायिक ग्रन्थों में प्राण एवं अपान वायु का बड़ा महत्व माना गया है क्योंकि इनके समीकरण से प्राणवायु ब्रह्मनाडी सुषुम्ना में प्रवेश करता है जिसमें ब्रह्मानुभूति होती है। 'श्वेताश्वतर' में भी प्राणायाम प्राणवायु एवं मन निग्रह की चर्चा करते हुए कहा गया है कि प्राणों का आयाम करके बड़ी तत्परता के साथ युक्त (क्षीण) प्राण वायु हो जाने पर नासिका से उच्छ्वास् ले। जैसे स रथी दुष्ट घोड़ो की लगाम को खींच कर उनका नियन्त्रण करता है उसी प्रकार योगी को अप्रमत्त होकर मन का निग्रह करना चाहिए।[3] प्राणायाम द्वारा प्राणवायु का नियमन करके मनोजय करना योग का समावृत सिद्धान्त है। इसी का प्रतिपादन उपनिषदों में किया गया है।

योग में नाडी-संधान का बड़ा महत्व है। उपनिषदों में भी नाडी विज्ञान की चर्चा है। 'कठोपनिषद्' में कहा गया है कि इस हृदय की एक सौ एक नाड़ियाँ हैं उनमें से एक मूर्धा को भेद कर बाहर निकली हुई है। उसके द्वारा ऊर्ध्व गमन करने वाला पुरुष अमरत्व को प्राप्त होता है। शेष विभिन्न गतियुक्त नाड़ियाँ उत्क्रमण (प्राणोत्सर्ग) की हेतु होती हैं।[4] इससे ज्ञात होता है कि उपनिषदों में नाड़ियों की

---

१ प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां
यस्मिन्विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥
—मुण्डकोपनिषद्, ३।१।९।

२ ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते ॥
—कठोपनिषद्, २।२।३।

३ श्वेताश्वतरोपनिषद् २।९।

४ शतं चैका च हृदयस्य नाड्यः—
स्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति
विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥
—कठोपनिषद् २।३।१६।

संख्या एक सौ एक मानी गई है। इनमें से एक नाड़ी मस्तक को भेद कर निकल गई है। यह नाड़ी सुषुम्ना है जिसे योग के ग्रन्थों में ब्रह्मनाड़ी कहा गया है। इस नाड़ी के द्वारा *ऊर्ध्वगामी जीव अमरत्व अर्थात् (ब्रह्म) को प्राप्त करता है।* 'कठोपनिषद्' के शांकर भाष्य में भी इस विशिष्ट नाड़ी को सुषुम्ना निर्दिष्ट किया गया है।[1] इस नाड़ी के अतिरिक्त शेष नाड़ियां प्राणप्रयाण की हेतु हैं अर्थात् संसार प्राप्ति के लिए हैं। योग के साम्प्रदायिक ग्रन्थों में भी सुषुम्ना के अतिरिक्त अन्य नाड़ियों को मोक्ष में अयुक्त माना गया है।

उपनिषदों में योग के चरम प्राप्तव्य—समाधि—का वर्णन भी किया गया है। 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में समाधि का स्पष्ट उल्लेख करते हुये कहा गया है कि 'इस प्रकार जानने वाला इन्द्रियों और मन का संयम करके उपरामवृत्ति धारण कर तितिक्षु होकर समाधि परायण हो अपने अन्दर आत्मा को देखता है।[2] योग के परवर्ती ग्रन्थों में भी समाधि की अवस्था में ही आत्मलाभ का वर्णन है। इस आत्मलाभ को ही *योगियों ने ब्रह्मानन्द की संज्ञा प्रदान की है।*

इन उपनिषदों में योग का महत्त्व एवं फल समादृत है। 'मुण्डक' में योग के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुये योगियों के प्रति कहा गया है कि वे धीर युक्तात्मा सर्वग सर्वव्यापी ब्रह्म को पाकर उस सर्व में ही प्रवेश करते हैं। वेदान्त विज्ञान का अर्थ (ब्रह्म) जिनके चित्त में सुनिश्चित हो चुका है जो संन्यास योग से यत्नवान् एवं शुद्ध सत्त्व हो गए हैं वे सब ब्रह्मलोक में परान्तकाल में परामृत होकर मुक्त होते हैं।[3] 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' में योग साधना करने वाले साधक को फल का निर्देश

---

१ कठोपनिषद् शांकरभाष्य पृ० १६९

२ तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो
भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति

—बृहदारण्यकोपनिषद् ४।४।२३।

३ ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा
युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति ॥
वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः
संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः ।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले
परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥

—मुण्डकोपनिषद् ३।२।५-६।

भी किया गया है। 'श्वेताश्वतर' के द्वितीय अध्याय में कहा गया है कि 'योगाग्निमय शरीर जिसको प्राप्त होता है उसे कोई रोग नहीं होता, वृद्धावस्था नहीं आती और मृत्यु भी नहीं होती।[1] घेरण्डसंहिता, हठयोग प्रदीपिका आदि योग के शास्त्रीय ग्रन्थों में इसी प्रकार के शब्दों में योग का फल निर्दिष्ट है।

---

१ न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः
प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥
—श्वेताश्वतरोपनिषद्, २ । १२ ।

गीता

ब्रह्म

श्रीमद्भगवद्गीता में ब्रह्म के व्यक्त और अव्यक्त स्वरूप का प्रमाण रूप से वर्णन किया गया है।[1] ब्रह्म का अव्यक्त रूप यद्यपि इन्द्रियों को अगोचर है, तथापि इतने से ही उसे निर्गुण नहीं कहा जा सकता। वह नेत्रों को दृष्टिगत न भी होता हो पर उसमें गुण सूक्ष्म रूप से रह सकते हैं। इसलिए अव्यक्त ब्रह्म के भी तीन भेद करना उचित है।[2]

१ सगुण
२ सगुण–निर्गुण
३ निर्गुण

यहाँ 'गुण' शब्द के द्वारा उन सब गुणों का समावेश किया गया है जिनका ज्ञान मनुष्य को केवल उसकी बाह्य इन्द्रियों से ही नहीं होता किन्तु मन से भी होता है। 'गीता' में श्रीकृष्ण स्वयं व्यक्त ब्रह्म हैं। वे परमेश्वर के साक्षात् मूर्तिमान अवतार हैं। 'गीता' में स्थान-स्थान पर उन्होंने स्वयं अपने विषय में कहा है प्रकृति मेरा स्वरूप है[3] जीव मेरा अंश है[4] सब भूतों का अन्तर्यामी आत्मा मैं हूँ[5] संसार में जितनी श्रीमान् या विभूतिमान मूर्तियाँ हैं वे सब मेरे अंश से उत्पन्न हुई हैं[6] मुझमें मन लगा कर मेरा भक्त हो तो तू मुझमें मिल जायगा।[7] कृष्ण ने जब अपने विश्व रूप दर्शन

---

१ गीता रहस्य पृष्ठ २११
२ २१२
३ श्रीमद्भगवद्गीता ९। ८।
४ १५। ७।
५ " १। २।
६ यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥
—श्रीमद्भगवद्गीता १। ४१।
७ मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥
—श्रीमद्भगवद्गीता ९। ३४।

से अर्जुन को यह प्रत्यक्ष अनुभव करा दिया कि समस्त चराचर सृष्टि ब्रह्म के व्यक्त रूप से ही साक्षात् भरी पड़ी है तब भगवान ने उसको यही उपदेश दिया कि अव्यक्त रूप की अपेक्षा व्यक्त रूप की उपासना सहज है।[1] इससे स्पष्ट हो जाता है कि गीता में ब्रह्म का व्यक्त स्वरूप समादृत है।

ब्रह्म का व्यक्त स्वरूप 'गीता' का प्रतिपाद्य अवश्य है किन्तु वह अन्तिम साध्य नहीं कहा जा सकता। उपर्युक्त वर्णनों के साथ ही कृष्ण ने यह भी कहा है कि मेरा व्यक्त स्वरूप मायिक है उसके परे जो अव्यक्त रूप है अर्थात् जो इन्द्रियों को अगोचर है वही मेरा यथार्थ स्वरूप है। उदाहरणार्थ कृष्ण ने गीता के सप्तम अध्याय में कहा है कि यद्यपि मैं अव्यक्त हूँ तथापि मूर्ख मुझे व्यक्त समझते हैं और व्यक्त से भी परे मेरे श्रेष्ठ तथा अव्यक्त रूप को नहीं पहचानते।[2] मैं अपनी योगमाया से आच्छादित हूँ इसलिए मन्द बुद्धि मुझे नहीं पहचानते।[3] मैं यद्यपि जन्म रहित और अव्यय हूँ, तथापि अपनी ही प्रकृति में अधिष्ठित होकर मैं अपनी माया से जन्म लेता हूँ।[4] यह त्रिगुणात्मक प्रकृति मेरी दैवी माया है। इस माया को जो पार कर जाते हैं, वे मुझे पाते हैं और इस माया से जिनका ज्ञान नष्ट हो जाता है वे मूढ़ नराधम मुझे नहीं प्राप्त कर सकते।[5] इससे प्रमाणित होता है कि यद्यपि उपासना की दृष्टि से गीता में ब्रह्म का व्यक्त स्वरूप समादृत है तथापि उसका श्रेष्ठ स्वरूप अव्यक्त ही है।

---

१ तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥
—श्रीमद्भगवद्गीता १२।७।

२ अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥
—श्रीमद्भगवद्गीता ७।२४।

३ नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥
—श्रीमद्भगवद्गीता ७।२५।

४ अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥
—श्रीमद्भगवद्गीता ४।६।

५ न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥
—श्रीमद्भगवद्गीता ७।१५।

'गीता' में ब्रह्म के अव्यक्त स्वरूप को व्यक्त की अपेक्षा श्रेष्ठ माना गया है। ब्रह्म का अव्यक्त स्वरूप सगुण भी है और निर्गुण भी है। कतिपय स्थलों पर यह सगुण-निर्गुण मिश्रित परस्पर विरोधी रूप में भी वर्णित है। अव्यक्त ब्रह्म सब व्यक्त सृष्टि निर्माण करता है,[1] सब लोगों के हृदय में रहकर उनसे समस्त व्यापार कराता है,[2] वह सब यज्ञों का भोक्ता और प्रभु है,[3] प्राणियों के सुख दुःख इत्यादि भाव उसी से उत्पन्न होते हैं,[4] प्राणियों के हृदय में श्रद्धा उत्पन्न करने वाला एवं 'लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्'[5] अर्थात् प्राणियों की वासना का फल देने वाला भी वही है तब यह प्रमाणित होता है कि ब्रह्म अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियों को अगोचर भले ही हो तथापि दया कर्तृत्व आदि गुणों से युक्त होने के कारण सगुण भी है। यही ब्रह्म का अव्यक्त सगुण स्वरूप है।

इसके विपरीत श्रीकृष्ण ने यह भी कहा है कि 'न मां कर्माणि लिम्पन्ति'[6] अर्थात् मुझे कर्मों या गुणों का कभी स्पर्श नहीं होता। अन्यत्र कहा गया है कि 'प्रकृति के गुणों से मोहित होकर मूर्ख आत्मा को ही कर्ता मानते हैं।[7] यह अव्यक्त और अकर्ता ब्रह्म ही प्राणियों के हृदय में जीव रूप से निवास करता है। ब्रह्म प्राणियों के कर्तृत्व और कर्म से वस्तुतः अलिप्त है तथापि अज्ञान में फँसे हुए प्राणी मोहित हो जाया करते हैं।[9] अतएव अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियों को अगोचर ब्रह्म के रूप सगुण एवं निर्गुण ही नहीं हैं। अनेक स्थलों पर इन दोनों रूपों को मिश्रित करके अव्यक्त ब्रह्म का वर्णन

---

१ श्रीमद्भगवद्गीता ९।८।
२ " १८।६१।
३ " ।२४।
४ " १०।५।
५ " ७।२२।
६ " ४।१४।
७ प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥
—श्रीमद्भगवद्गीता ३।२७।
८ श्रीमद्भगवद्गीता १३।३१।
९ न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥
नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥
—श्रीमद्भगवद्गीता ५।१४–१५।

किया गया है। उदाहरणार्थ 'भूतभृत् न च भूतस्था' अर्थात् मैं गुणों का आधार होकर भी उनमें नहीं हूँ परब्रह्म न तो सत् है और न असत्[१] सर्वेन्द्रिय रहित है और निर्गुण होकर गुणों का उपभोग करने वाला है,[२] दूर है और समीप भी है,[३] अविभक्त है और विभक्त भी दृष्टिगत होता है।[४]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि गीता में अव्यक्त ब्रह्म के सगुण निर्गुण मिश्रित अर्थात् परस्पर विरोधी स्वरूप का वर्णन भी किया गया है। इसके अतिरिक्त गीता के द्वितीय अध्याय में ब्रह्म को अव्यक्त, अचिन्त्य और अविकार्य निर्दिष्ट किया गया है।[५] त्रयोदश अध्याय में भी अव्यक्त निर्गुण ब्रह्म स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि यह परमात्मा अनादि निर्गुण और अव्यक्त है। इसलिए शरीर में रहकर भी न तो वह कुछ करता है और न किसी में लिप्त होता है।[६] इस प्रकार 'श्रीमद्भगवद्गीता' में ब्रह्म के शुद्ध निर्गुण निरवयव निर्विकार, अचिन्त्य अनादि और अव्यक्त रूप की अवस्था का प्रतिपादन किया गया है।

माया

'श्रीमद्भगवद्गीता' में माया का वर्णन अनेक स्थलों पर हुआ है। 'गीता' के अनुसार अविनाशी एवं अजन्मा ब्रह्म अपनी जिस शक्ति से दृश्य जगत् के रूप में प्रकट हुआ सा दृष्टिगोचर होता है वही माया है।[७] इस शक्ति की दृश्य जगत् के रूप में स्थापना हो जाने पर ब्रह्म इससे आच्छादित हो जाता है जिससे जीव आच्छादन रूप में व्यक्त

---

१ श्रीमद्भगवद्गीता १३ । १७ ।

२ सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥
—श्रीमद्भगवद्गीता १३ । १४ ।

३ श्रीमद्भगवद्गीता १३ । १५ ।

४ अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
—श्रीमद्भगवद्गीता १३ । १६ ।

५ अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥
—श्रीमद्भगवद्गीता २ । २५ ।

६ अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥
—श्रीमद्भगवद्गीता १३ । ३१ ।

७ गीता रहस्य पृ २७४

माया को ही समस्त भ्रम एवं भेद समझने लगता है। इसी भावना को व्यक्त करते हुए 'गीता' में कहा गया है कि ब्रह्म अपनी योगमाया से आच्छादित होने के कारण सबको प्रत्यक्ष नहीं होता इसलिए जीव अज एवं अव्यय ब्रह्म तत्त्व को नहीं जानते।[1] अतएव गीता के अनुसार माया ब्रह्म की अनादि शक्ति है[2] एवं सृष्टि-क्रम में व्यक्त होकर वह परब्रह्म का आच्छादन कर लेती है।

'गीता' में माया को अनादि अवश्य कहा गया है। किन्तु वह उसे सांख्य की प्रकृति की भाँति स्वतन्त्र एवं स्वयंभू नहीं माना गया है। गीता में माया ब्रह्म की आश्रित शक्ति है एवं उपनिषदों के माया तत्त्व की भाँति ब्रह्म के अधिष्ठान में ही उत्पन्न होती है। स्वयं एवं स्वतन्त्ररूपेण सृष्टि की क्षमता उसमें नहीं है। इसी की पुष्टि करते हुए 'गीता' में कहा गया है कि ब्रह्म की अध्यक्षता में माया चराचर सहित सर्व जगत् को रचती है।[3] भगवान कृष्ण ने 'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया'[4] के द्वारा कहा भी है कि प्रकृति स्वतन्त्र नहीं है, वह मेरी ही माया है। वस्तुतः परब्रह्म की अध्यक्षता में उसकी शक्ति माया इस पञ्चभूतात्मक जड़ सृष्टि का सृजन करती है। इसी भाव को प्रकट करते हुए गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि मेरी महत् ब्रह्म रूप प्रकृति सम्पूर्ण भूतों की योनि है और मैं उस योनि में चेतन रूप बीज का स्थापन करता हूँ। इस जड़ चेतन के संयोग से ही समस्त भूतों की उत्पत्ति होती है।[5] अतएव गीता द्वारा प्रतिपादित माया भी उपनिषदों की माया के अनुसार ही परब्रह्म की क्रिया शक्ति है। वह उसके अधिष्ठान में ही कार्यरत होती है। सांख्य की प्रकृति के अनुसार वह न तो स्वयंभू है और न सृष्टि का मूल कारण।

'गीता' में माया को त्रिगुणात्मक कहा गया है। श्रीकृष्ण ने अनेक स्थलों पर अपनी गुणमयी या त्रिगुणात्मक माया की चर्चा की है। माया के त्रिगुणात्मक होने के

---

१ नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥
—श्रीमद्भगवद्गीता ७ । २५ ।

२ श्रीमद्भगवद्गीता ११ । १९ ।

३ मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
—श्रीमद्भगवद्गीता ९ । १ ।

४ श्रीमद्भगवद्गीता ७ । १४ ।

५. मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥
—श्रीमद्भगवद्गीता १४ । ३ ।

कारण सम्पूर्ण त्रिगुणात्मक पदार्थों की उत्पत्ति भी उसी के द्वारा होती है।[१] गीता में प्रकृति को गुणों के सहित निर्दिष्ट किया भी गया है—'प्रकृतिं च गुणैः सह'।[२] माया के त्रिगुणात्मक रूप की प्रतिष्ठा के साथ 'गीता' में यह भी कहा गया है कि प्रकृति या माया से उत्पन्न सतोगुण रजोगुण एवं तमोगुण नामक त्रयगुण अविनाशी जीवात्मा को शरीर में बाँधते हैं।[३] इसका अभिप्राय यह है कि गुणात्मक माया सत रज एवं तम नामक तीन गुणों को उत्पन्न करके जीवात्मा को स्थूल शरीर में बाँधती है। इस प्रकार माया जीवात्मा के बन्धन का कारण सिद्ध होती है। त्रिगुणजनित कर्म बन्धन में रहकर जीवात्मा अपने नित्य शुद्ध-बुद्ध-प्रबुद्ध स्वरूप को विस्मृत कर बैठता है। अतएव उसकी अज्ञानावस्था का मूल कारण माया या अविद्या ही प्रमाणित होती है और इसीलिये गीता में प्रज्ञाजन ब्रह्म को पाने के लिए तीन गुणों अर्थात् त्रिगुणात्मक माया को पार करना निर्दिष्ट किया गया है।[४] अन्यत्र कृष्ण ने कहा भी है कि मेरी दैवी और त्रिगुणमयी माया बड़ी दुस्तर है किन्तु मेरा भजन करने वाले इस माया का उल्लंघन कर जाते हैं।[५] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि गीता में माया काम्य नहीं अकाम्य है। वह जीव की बन्धन रूप अविद्या है और उसका परित्याग ही परमार्थार्जन है।

'गीता' द्वारा प्रतिपादित माया का स्वरूप उपर्युक्त पंक्तियों में प्रस्तुत किया गया है। इससे यह प्रकट होता है कि 'गीता' की माया उपनिषदों की भाँति ही ब्रह्म के अधिष्ठान में सृष्ट्युत्पादक क्रिया शक्ति है। इस प्रकार त्रिगुणमयी वह सृष्टि के रूप में प्रतिभासित होकर 'माया' ब्रह्म को आच्छादित कर लेती है जिससे जीव अज्ञान बन्धन में पड़ जाता है। इस बन्धन से परित्राण पाने के निमित्त त्रिगुणों की अधिष्ठात्री माया का उल्लंघन 'गीता' का प्रतिपाद्य है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि 'गीता' माया परित्याग के द्वारा ब्रह्म साक्षात्कार का प्रतिपादन करती है।

---

१ श्रीमद्भगवद्गीता १३। १९।

२ श्रीमद्भगवद्गीता १३। २१।

३ सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥
—श्रीमद्भगवद्गीता १४। ५।

४ गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते॥
—श्रीमद्भगवद्गीता १४। २०।

५ दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥
—श्रीमद्भगवद्गीता ७। १४।

जीवात्मा

'श्रीमद्भगवद्गीता' में उपनिषदों की भांति ही जीवतत्व का विवेचन किया गया है। 'गीता' में ब्रह्म की दो प्रकृतियों का वर्णन है। इनको अपरा और परा कहते हैं।[1] अपरा प्रकृति का अभिप्राय जीवेतर समस्त पदार्थों से है और परा उत्कृष्ट प्रकृति से तात्पर्य जीव से है। चैतन्यात्मक होने से जीव परमेश्वर की परा प्रकृति अर्थात् उत्कृष्ट विभूति है। 'गीता' में इसी को 'क्षेत्रज्ञ' कहा गया है।[2] कृतकर्मों के फल धारण करने के कारण अथवा भोगायतन होने के हेतु शरीर को ही क्षेत्र कहते हैं। इस क्षेत्र का ज्ञाता क्षेत्रज्ञ कहा जाता है।[3] 'गीता' में श्रीकृष्ण ने कहा है कि 'सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ मेरे को ही जान'[4] अर्थात् सब शरीरों में एकमात्र आत्मा ही है जिसे उपाधिवश जीव कहते हैं। अन्यत्र श्रीकृष्ण ने कहा भी है कि इस देह में यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है।[5] जीव ब्रह्म का अंश है इसका यह तात्पर्य नहीं कि जीवात्मा ब्रह्म का भाग है। इसका अभिप्राय यह है कि आत्मा या ब्रह्म तो एक और अखण्ड है, वही सूर्य की भांति समस्त क्षेत्रों को प्रकाशित कर रहा है।

इस प्रकार उपनिषदों की भांति गीता भी परमार्थतः जीव और ब्रह्म में भेद नहीं मानती। जीव और ब्रह्म का भेद तो व्यावहारिक है। परमार्थ में वे एक ही हैं। 'गीता' के द्वितीय अध्याय में इस एकमात्र आत्मतत्व को अविनाशी निर्धारित करते हुये कहा गया है कि जो व्यक्ति उसे मारने वाला या मारे जाने वाला समझता है वे दोनों उसके तत्त्व से अपरिचित हैं क्योंकि यह न तो मारता है न मारा जाता है।[6] हन्यमान शरीर में कभी उसका हनन नहीं किया

---

१ श्रीमद्भगवद्गीता ७।५।

२ गीता रहस्य पृ १५८

३ इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।
—श्रीमद्भगवद्गीता १३।१।

४ क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
—श्रीमद्भगवद्गीता १३।२।

५. ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥
—श्रीमद्भगवद्गीता १५।७।

६ य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥
—श्रीमद्भगवद्गीता २।१९।

जा सकता।[1] गीता के अनेक स्थलो पर यह प्रतिपादित है कि आत्मा का नाश नही होता नाश तो पञ्चभूतात्मक शरीर का होता है। यह पञ्चभूतात्मक पिण्ड धर है, इसका जीवन अमर है। यह अमर या जीवतत्त्व शरीरो मे सदा ही अवध्य है।[2] गीता' मे कहा गया है कि इस नाशरहित अप्रमेय नित्यस्वरूप जीवात्मा के यह सब शरीर नाशवान् कहे गए हैं।[3] इस ससार मे नाशवान और अविनाशी दो प्रकार के पुरुष है, उनमे सम्पूर्ण भूतप्राणियो के शरीर तो नाशवान और जीवात्मा अविनाशी कहा जाता है।[4] वस्तुत जीव का मरण नही होता मरणधर्मा तो शरीर है। जिस प्रकार मनुष्य जीर्ण वस्त्र को त्याग कर नवीन वस्त्र ग्रहण करता है उसी प्रकार जीव प्रारब्ध भोग द्वारा जीर्ण (क्षीण कर्म) शरीरो को छोड कर नवीन शरीरों को प्राप्त होता है।[5] इससे यह प्रकट होता है कि 'श्रीमद्भगवद्गीता' मे जीवतत्त्व सनातन एव अविनाशी माना गया है और उसका पञ्चभूतात्मक शरीर अनित्य एवं नश्वर प्रतिपादित किया गया है।

जीवात्मा का शरीर-बन्धन माया अविद्या या अज्ञान के कारण है। श्रीमद्भगवद् गीता' मे कहा गया है कि प्रकृति या माया से उत्पन्न सत रज और तमोगुण इस अविन सी जीवात्मा को शरीर मे बाधते हैं।[6] इसी ग्रन्थ मे अन्यत्र कहा गया है कि

---

१ अजो नित्य शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥
—श्रीमद्भगवद्गीता २।२ ।

२ श्रीमद्भगवद्गीता २। ३ ।

३ अन्तवन्त इमे देहा नित्य स्योक्ता शरीरिण ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥
—श्रीमद्भगवद्गीता २।१८।

४ द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षर सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥
—श्रीमद्भगवद्गीता १५।१६।

५. वासासि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा—
न्यन्यानि सयाति नवानि देही ॥
—श्रीमद्भगवद्गीता २।२२।

६ सत्त्व रजस्तम इति गुणा प्रकृतिसभवा ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥
—श्रीमद्भगवद्गीता १४।५।

'गीता' के अनुसार सम्पूर्ण जगत ब्रह्ममय है एवं सूत्र में सूत्र के मणियों के सदृश ब्रह्म में गुंथा हुआ है।[1] यह ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य वस्तु नहीं है। इसी तथ्य का स्पष्टीकरण करते हुये कृष्ण ने पुनः कहा है कि मुझ परब्रह्म से यह सब जगत परिपूर्ण है।[2] जगत ब्रह्म से परिपूर्ण ही नहीं है अपितु ब्रह्म ही जगत का धारण-पोषण करने वाला है। इसी भाव को 'गीता' में ब्रह्म जगत का 'धाता' है[3] द्वारा व्यक्त किया गया है। ब्रह्म सम्पूर्ण जगत को (अपनी योगमाया के) एक अंशमात्र से धारण किए हुए है।[4] वस्तुतः जगत ब्रह्म में ही आश्रित है। 'गीता' में 'त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्'[5] के द्वारा ब्रह्म को जगत का परम आश्रय कहा गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'गीता' में जगत को ब्रह्म से परिपूर्ण एवं परिव्याप्त माना गया है एवं ब्रह्म के कारण ही उसकी स्थिति है।

जगत् की उत्पत्ति एवं स्थिति के अतिरिक्त उसका लय भी ब्रह्म में होता है। 'गीता' में श्रीकृष्ण ने कहा है कि कल्प के अन्त में सब भूत मेरी प्रकृति को प्राप्त होते हैं।[6] ब्रह्म ही सृष्टियों का आदि अन्त और मध्य है।[7] जगत के आवन्तर आविर्भाव काल को पौराणिक कल्पना के अनुसार 'गीता' में ब्रह्मा का दिन कहा गया है और आवन्तर तिरोभाव काल को ब्रह्मा की रात्रि कहा गया है। इसी प्रसंग में कहा गया है कि सम्पूर्ण दृश्यमात्र भूतगण ब्रह्मा के सूक्ष्म शरीर से उत्पन्न होते हैं और ब्रह्मा की रात्रि के प्रवेशकाल में उस अव्यक्त नामक ब्रह्मा के सूक्ष्म शरीर में ही लय होते हैं।[9]

---

१ मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥
—श्रीमद्भगवद्गीता ७।७।

२ श्रीमद्भगवद्गीता ९।४।

३ श्रीमद्भगवद्गीता ९।१७।

४ अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥
—श्रीमद्भगवद्गीता १ । ४२।

५ श्रीमद्भगवद्गीता ११।१८।

६ श्रीमद्भगवद्गीता ९।७।

७ श्रीमद्भगवद्गीता १ । ३२।

८ श्रीमद्भगवद्गीता । १७।

९ अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥
—श्रीमद्भगवद्गीता ८।१८।

इससे भी यही प्रमाणित होता है कि इस जगत् की उत्पत्ति की भाँति इस का लयस्थान भी ब्रह्म ही है।

'कठोपनिषद्' में जिस अश्वत्थ रूप जगत् भावना का वर्णन किया गया है उसी का सुविस्तृत प्रतिपादन 'गीता' में हुआ है। 'गीता' के पन्द्रहवें अध्याय में अश्वत्थरूप जगत् का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उस अश्वत्थवृक्ष की जड़ या मूल (ब्रह्म) ऊपर है और अनेक शाखाएं नीचे हैं इसका कभी नाश नहीं होता। वेद इसके पत्ते हैं। इस वृक्ष का ज्ञाता सच्चा वेदवेत्ता है। नीचे और ऊपर भी उसकी शाखाएं फैली हुई हैं जो गुणों (सत रज तम) से पली हुई हैं और जिनसे (शब्द स्पर्श रूप रस गंध रूपी) विषयों के अंकुर फूटे हुए हैं एवं अन्त में कर्म का रूप पाने वाली उसकी जड़ नीचे मनुष्यलोक में बढ़ती गहरी चली गई है। अत्यन्त गहरी जड़ों वाले इस अश्वत्थ वृक्ष को अनासक्ति या वैराग्य की कुठार से काटना चाहिए।[1] जगत् रूप इस सृष्टि का यह प्रसार ही नामरूपात्मक कर्म है एवं कर्म सृष्टि की भाँति ही अनादि है। इसमें आसक्त बुद्धि त्यागने से ही इसका क्षय हो जाता है अन्यथा नहीं। इसी को ध्यान में रखकर गीता अनासक्ति की कुठार से कर्मरूप जगत वृक्ष के उन्मूलन का प्रस्ताव करती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि गीता की जगत् भावना और उपनिषदों की जगत् भावना में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। यह मूलतः एक ही प्रकार की है।

जीवन्मुक्ति

श्रीमद्भगवद्गीता में जीवन्मुक्ति की चर्चा कई स्थलों पर की गई है। इसमें कहा गया है कि जिनका मन साम्यावस्था में स्थिर हो जाता है वे यहीं मृत्युलोक को जीत लेते हैं। ब्रह्म निर्दोष और सम है इसलिए ये साम्यबुद्धि वाले पुरुष सदैव ब्रह्म में

---

१ ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥
अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥

—श्रीमद्भगवद्गीता १५ । १–३ ।

स्थित हो जाते हैं।[1] वस्तुतः यह ज्ञान के द्वारा साम्यावस्था प्राप्त पुरुष की ब्रह्मभूत अथवा जीवन्मुक्त दशा का वर्णन है। साम्यावस्था प्राप्त पुरुष इसी लोक में ब्रह्मरूप हो जाता है मोक्ष के लिए उसे मरण द्वारा किसी दूसरे लोक में जाने की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर उपर्युक्त पंक्तियों में कहा गया है कि ज्ञाननिष्ठ साम्यावस्था प्राप्त ब्रह्मभूत पुरुष यहीं के यहीं अर्थात् इसी लोक में रहते हुए मृत्युलोक को जीत लेते हैं। इस प्रकार जिसके मन में सर्वभूतान्तर्गत ब्रह्मात्मैक्य रूपी साम्य प्रतिबिम्बित हो जाता है वह देवयान आदि मार्ग की अपेक्षा न रखकर इस लोक में ही जन्म मरण को जीत लेता है।[2]

गीता में प्रतिपादित जीवन्मुक्ति उपनिषदों की भांति ही ज्ञानाश्रित है। जिस प्रकार छान्दोग्योपनिषद् में 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि वाक्यों के द्वारा अभेद ज्ञान निष्ठ पुरुष के ब्रह्मभूत होकर इसी लोक में मुक्त होने का वर्णन है उसी प्रकार गीता के मत से भी ज्ञानदृष्टि से पुरुष भिन्नता का प्रत्याख्यान करके ब्रह्म में मिल जाता है। इस सम्बन्ध में 'गीता' में प्रतिपादित किया गया है कि जब भूतों का पृथकत्व या नानात्व एकता से दिखाई देने लगे एवं इस एकत्व से ही समस्त विस्तार दृष्टिगत हो तब ब्रह्म प्राप्त होता है।[3] वस्तुतः भेद में अभेदतत्व की ज्ञान दृष्टि ही जीव की ब्राह्मी स्थिति है। यही अध्यात्मज्ञान की चरम अवस्था है। इसे प्राप्त करके पुरुष इसी लोक में ब्रह्ममय अथवा जीवन्मुक्त हो जाता है। 'गीता' में यही कहा गया है।

'श्रीमद्भगवद्गीता' में जीवन्मुक्त दर्शन के साथ ही जीवन्मुक्त पुरुषों के लक्षणों का सविस्तार वर्णन किया गया है। गीता का स्थितप्रज्ञ,[4] त्रिगुणातीत[5] या ब्रह्मनिष्ठ[6] पुरुष यथार्थ में जीवन्मुक्त पुरुष ही है। जीवन्मुक्त पुरुष के लक्षणों का वर्णन करते हुये कहा गया है कि जिन ज्ञानियों की द्वन्द्व बुद्धि छूट गई है, जिनके पाप नष्ट हो गये हैं,

---

१ इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥
—श्रीमद्भगवद्गीता ५ । १९ ।

२ गीतारहस्य पृ ३१४ ।

३ यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥
—श्रीमद्भगवद्गीता १३ । ३ ।

४ श्रीमद्भगवद्गीता २ । ५५, ११ । ५ ।

५ श्रीमद्भगवद्गीता १४ । २१ ।

६ श्रीमद्भगवद्गीता ५ । १९ ।

एवं जो आत्मसंयम से सब प्राणियों का हित करने में रत हो गये हैं उन्हें वह ब्रह्म निर्वाणरूप मोक्ष प्राप्त होता है।[1] काम क्रोध विरहित आत्मसंयमी और आत्म ज्ञान सम्पन्न यतियों को अनायास ब्रह्म निर्वाण रूप मिल जाता है।[2] जिसने इन्द्रिय मन और बुद्धि का संयम कर लिया है तथा जिसके भय इच्छा और क्रोध छूट गये हैं वह मोक्षपरायण मुनि सदा सर्वथा मुक्त ही है।[3] जीवन्मुक्त पुरुष के ये लक्षण सिद्ध करते हैं कि गीताकार की दृष्टि में साम्यबुद्धि से ज्ञान द्वारा अविद्याजनित प्रतीतियों को नष्ट करके ब्रह्मयुक्त होना ही जीवन्मुक्त है।

मन

'श्रीमद्भगवद्गीता' में मन को इन्द्रियों की अपेक्षा श्रेष्ठ प्रतिपादित किया गया है। इसमें कहा गया है कि इन्द्रियाँ पदार्थों से पर या श्रेष्ठ हैं और मन इन्द्रियों से भी श्रेष्ठ है—इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।[4] वस्तुतः इन्द्रियों की तुलना में मन अधिक सूक्ष्म है इसीलिए वह पर या श्रेष्ठ है।

'गीता' में बाह्येन्द्रियों और मन के सम्बन्ध पर भी विचार किया गया है। 'गीता' का यह पर्याप्त निश्चित मत है कि इन्द्रियाँ अपनी बहिर्मुखी प्रवृत्ति के द्वारा मन का प्रमथन करती हैं अर्थात् मन को विचलित या चलायमान करती हैं। श्रीकृष्ण ने द्वितीय अध्याय में कहा है कि यत्न करते हुए बुद्धिमान पुरुष के मन को यह प्रमथन स्वभाव वाली इन्द्रियाँ बलात्कार से हर लेती हैं।[5] इस प्रकार इन्द्रियों से

---

१ लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥
—श्रीमद्भगवद्गीता ५ । २५ ।

२ कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥
—श्रीमद्भगवद्गीता ५ । २६ ।

३ यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥
—श्रीमद्भगवद्गीता ५ ।२८

४ श्रीमद्भगवद्गीता ३ । ४ ।

५ यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥
—श्रीमद्भगवद्गीता २ । ६

प्रमथित मन इनके अधीन हो जाता है जिससे पुरुष की बुद्धि या विवेकशक्ति नष्ट हो जाती है। 'गीता' में कहा गया है कि जल में वायु नाव को जैसे हर लेता है उसी प्रकार विषय-विचरणा इन्द्रियों के मध्य जिस इन्द्रिय के साथ मन रहता है वह एक ही इन्द्रिय इस अयुक्त पुरुष की बुद्धि हर लेती है।[1] इससे यह प्रकट होता है कि 'गीता' के अनुसार इन्द्रियों की विषयासक्ति और कामनाओं के प्रवेग से मन अस्थिर या चञ्चल हो उठता है जिससे जीव स्थिर बुद्धि नहीं रह पाता।

'गीता' में मन को चञ्चल प्रमथन स्वभाववाला दृढ़ एवं प्रबल कहा गया है। इसको वश में करना वायु की भांति दुष्कर है।[3] गीता में कहा गया है कि अस्थिर और चञ्चल मन को वश में करने के लिये उसको सांसारिक पदार्थों में आसक्ति रोककर बारम्बार परमात्मा में निरोध करना चाहिए।[4] 'गीता' में ही अन्यत्र 'संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः'[5] अर्थात् संकल्प से उत्पन्न होने वाली सम्पूर्ण कामनाओं को निःशेषता से मन को वशीभूत करने का प्रतिपादन किया गया है। मन का वशीभूत होना ही मन का अचल स्थापन है। इससे मन उद्वेगरहित शान्त, स्थिर और अचञ्चल हो जाता है। मन के इस अचञ्चल स्थापन से ही परमार्थ सिद्ध होता है।

काल

'गीता' में 'काल' शब्द का प्रयोग निम्नलिखित दो अर्थों में किया गया है—

१ समय
२ मृत्यु

---

१ इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥
—श्रीमद्भगवद्गीता २। ६७।

२ चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
—श्रीमद्भगवद्गीता ६। ३४।

३ तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥
—श्रीमद्भगवद्गीता ६। ३४।

४ यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥
—श्रीमद्भगवद्गीता ६। २६।

५ श्रीमद्भगवद्गीता ६। २४।

'श्रीमद्भगवद्गीता' के अष्टम अध्याय में 'अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्'[1] तथा यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः [2] इत्यादि में 'काल' शब्द समय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसके अतिरिक्त 'काल' की मृत्यु मानना का प्रतिपादन भी 'गीता' में किया गया है। 'अहमेवाक्षयः कालो'[3] के द्वारा श्रीमद्भगवद्गीता में मृत्युरूप अक्षय काल की चर्चा की गई है। अन्यत्र 'मृत्युः सर्वहरश्च'[4] इत्यादि के द्वारा कहा गया है कि मृत्यु या काल सब का नाश करने वाला है। 'गीता' के द्वादश अध्याय में 'मृत्युसंसारसागरात्'[5] अर्थात् मृत्युरूप संसार समुद्र की चर्चा करके संसार को कालाधीन निर्दिष्ट किया गया है। इसके अतिरिक्त 'गीता' में मृत्युलोक का उल्लेख[6] और मृत्यु के प्रतीक यमराज की चर्चा भी की गई है।[7] उपनिषदों की भांति ही 'गीता' में 'कालतत्त्व' का वर्णन प्रासंगिक है।

कर्म

'श्रीमद्भगवद्गीता' में कहा गया है कि कर्म त्याज्य नहीं है त्याज्य है उसमें आसक्ति रखना। श्रीकृष्ण ने कहा है कि यज्ञ दान और तप रूप कर्म त्यागने के योग्य नहीं हैं क्योंकि यह तीनों ही बुद्धिमान पुरुषों को पवित्र करने वाले हैं।[8] यदि मनुष्य कर्म का त्याग करना भी चाहे तो नहीं कर सकता क्योंकि कोई भी पुरुष किसी काल में क्षणमात्र भी बिना कर्म किए नहीं रहता है निस्सन्देह सब ही पुरुष प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों द्वारा परवश हुये कर्म करते हैं।[9] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि गीता में

---

१ श्रीमद्भगवद्गीता ८।५।
२ श्रीमद्भगवद्गीता ८।२३।
३ श्रीमद्भगवद्गीता १०।३३।
४ श्रीमद्भगवद्गीता १०।३४।
५. श्रीमद्भगवद्गीता १२।७।
६ श्रीमद्भगवद्गीता ९।२१।
७ श्रीमद्भगवद्गीता ११।३९।
८ यज्ञदान तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥
—श्रीमद्भगवद्गीता १८।५।
९. न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥
—श्रीमद्भगवद्गीता ३।५।

कर्म विशेष है और यह माना गया है कि किसी न किसी रूप में प्रत्येक मनुष्य कर्म करता है, क्योंकि कर्म सृष्टि का अंग है।

अध्यात्म शास्त्र में कर्म को बन्धन का कारण माना गया है। अतएव यह प्रश्न उठता है कि 'गीता' के द्वारा कर्म-निष्पत्ता का प्रतिपादन करते समय क्या कर्म का बन्धन रूप विस्मृत कर दिया गया है? इसका उत्तर यह है कि 'गीता' के अनुसार कर्म न करने से ही निष्कर्मता नहीं प्राप्त होती और न कर्मों को त्यागने मात्र से भगवत्-साक्षात्कार होता है।[1] वस्तुतः कर्म में आसक्ति अथवा अनासक्ति ही बन्धन और मुक्ति का कारण हो जाती है। यदि कर्म आसक्तिपूर्वक किया गया है तो बन्धन का कारण है और यदि अनासक्ति या निष्काम भाव से किया जाता है तो मुक्ति का कारण है। 'श्रीमद्भगवद्गीता' में निष्काम कर्माचरण का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि अनासक्त पुरुष कर्म करता हुआ परमात्मा को प्राप्त होता है।[2] यही 'गीता' का कामना विरहित निष्काम कर्मयोग है जिसका प्रतिपादन इस ग्रन्थ के द्वितीय एवं तृतीय अध्याय के अनेक स्थलों पर किया गया है।

ज्ञान

श्रीमद्भगवद्गीता' में 'ज्ञान' का अभिप्राय ब्रह्मज्ञान अथवा आत्मज्ञान है। 'गीता' के चौथे अध्याय में कहा गया है कि यह ज्ञान श्रेय है जिस ज्ञान के द्वारा सर्वव्यापी अनन्त चेतन रूप हुआ अपने अन्तर्गत समष्टि बुद्धि के आधार सम्पूर्ण भूतों को देखेगा और उसके उपरान्त मेरे में अर्थात् सच्चिदानन्द स्वरूप में एकीभाव हुआ सच्चिदानन्दमय ही देखेगा।[3] 'गीता' में ही कहा गया है कि तत्त्वज्ञान के अर्थ रूप परमात्मा को सर्वत्र देखना ज्ञान है।[4] भगवान श्रीकृष्ण ने 'ज्ञानं ज्ञानवतामहम्'[5] के द्वारा कहा है कि

१ श्रीमद्भगवद्गीता ३ । ४ ।

२ तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥
—श्रीमद्भगवद्गीता ३ । १९ ।

३ यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥
—श्रीमद्भगवद्गीता ४ । ३५ ।

४ अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥
—श्रीमद्भगवद्गीता १३ । ११ ।

५ श्रीमद्भगवद्गीता १ । ३८ ।

आत्मज्ञान का तत्त्व ज्ञान में ही है। 'गीता' में जिस ज्ञान योग की चर्चा है, उसका अभिप्राय वस्तुतः आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन करना है। 'गीता' के द्वितीय अध्याय में आत्मा का स्वरूप प्रतिपादित करने के उपरान्त कहा गया है कि यही ज्ञानयोग है।[1] इस ज्ञानयोग या ज्ञान के सम्बन्ध में यह भी कहा गया है कि इसका अनुभव आत्मा में होता है।[2] इससे स्पष्ट हो जाता है कि 'श्रीमद्भगवद्गीता' में ज्ञान का अर्थ आत्मज्ञान ही है।

'श्रीमद्भगवद्गीता' में कहा गया है कि अज्ञान का नाश ब्रह्मज्ञान से होता है और यही परमात्मा का प्रकाशक है।[3] इसी ग्रन्थ में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है कि अज्ञान से उत्पन्न हुए अन्धकार को प्रकाशमय तत्त्वज्ञान के दीपक के द्वारा नष्ट करता हूँ।[4] ज्ञान से अज्ञान के नाश के साथ ही गीता में ज्ञान के द्वारा मोक्ष का प्रतिपादन भी किया गया है। इसमें कहा गया है कि पुरुष ज्ञान को प्राप्त होकर तत्क्षण भगवत्प्राप्ति रूप परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है।[5] वस्तुतः ज्ञान को प्राप्त करना आत्मा को प्राप्त करना है और इसमें जीव के समस्त अपराध नष्ट हो जाते हैं जिससे उसे मोक्षरूप परम शान्ति प्राप्त होती है।

भक्ति

'श्रीमद्भगवद्गीता' में सगुण और निर्गुण ब्रह्म की उपासना समान रूप से प्रतिपादित है। सगुण परमेश्वर की भक्ति का प्रतिपादन करते हुए 'गीता' में कहा गया है कि जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धा से युक्त हुए सगुण रूप परमेश्वर को

---

१ श्रीमद्भगवद्गीता २ । २९ ।

२ श्रीमद्भगवद्गीता ४ । ३८ ।

३ ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥
—श्रीमद्भगवद्गीता ५ । १६ ।

४ तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥
—श्रीमद्भगवद्गीता १० । ११

५ श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥
—श्रीमद्भगवद्गीता ४ । ३९ ।

भजते हैं वे मेरे को योगियो मे भी अति उत्तम योगी (भक्तियोगी) मान्य हैं।[1] इसी के साथ निराकार ब्रह्म की उपासना का प्रतिपादन करते हुए गीता मे कहा गया है कि जो पुरुष इन्द्रियो के समुदाय को भली भाति वश मे करके मन और बुद्धि से परे सर्वव्यापी अकथनीय एक रस नित्य अचल निराकार, अविनाशी सच्चिदानन्दघन ब्रह्म को निरन्तर एकीभाव से ध्यान मे करते हुए उपासते हैं वे ब्रह्म को ही प्राप्त होते हैं।[2] इस प्रकार गीता मे सगुण और निर्गुण उपासना समान रूप से विवेच्य है किन्तु गीतकार ने स्पष्ट कह दिया है कि निराकार की उपासना क्लेश साध्य है।[3] इसके विपरीत सगुण ब्रह्म की भक्ति करने वाले अपने समस्त कर्म ब्रह्म को अर्पण करके शीघ्र ही मृत्यु रूपी संसार सागर को पार कर जाते हैं।[4] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'श्रीमद्भगवद्गीता' मे निर्गुण की अपेक्षा सगुण की भक्ति सुलभ निर्दिष्ट की गई है।

'गीता' मे श्रीकृष्ण ने चार प्रकार के भक्तो का उल्लेख किया है। वे अर्थार्थी आर्त जिज्ञासु और ज्ञानी हैं।[5]

अर्थार्थी भक्त सांसारिक पदार्थों के लिए भक्ति करता है। आर्तभक्त सकट निवारण के हेतु भक्ति करता है। जिज्ञासु परमेश्वर को यथार्थ स्वरूप से जानने की इच्छा से भक्ति करता है और ज्ञानी निष्काम होकर परमेश्वर मे अभेदभाव से स्थित हुआ भक्ति करता है। इन चार प्रकार के भक्तो मे से 'गीता' ज्ञानी भक्त को सर्वोत्तम मानती है। श्रीकृष्ण ने कहा है कि नित्य मेरे मे एकी भाव से स्थित हुआ अनन्य भक्ति वाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है क्योकि मेरे को तत्व

---

१ मय्यावेश्य मनो ये मा नित्ययुक्ता उपासते।
  श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मता ॥
  —श्रीमद्भगवद्गीता १२ । २ ।

२ ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्त पर्युपासते।
  सर्वत्रगमचिन्त्य च कूटस्थमचल ध्रुवम् ॥
  सनियम्येन्द्रियग्राम सर्वत्र समबुद्धय ।
  ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रता ॥
  —श्रीमद्भगवद्गीता १२ । ३-४ ।

३ श्रीमद्भगवद्गीता १२ । ५ ।

४ श्रीमद्भगवद्गीता १२ । ६-७ ।

५. चतुर्विधा भजन्ते मा जना सुकृतिनोऽर्जुन।
  आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥
  —श्रीमद्भगवद्गीता ७ । १६ ।

से जानने वाले ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मेरे को अत्यन्त प्रिय है।[1] वस्तुतः ज्ञानी की भक्ति ही पराभक्ति है और ज्ञानी भक्त ही पराभक्त है।

'श्वेताश्वतरोपनिषद्' की भांति 'गीता' में भी भक्ति की कोई परिभाषा नहीं प्रस्तुत की गई है। परन्तु गीता में भगवान् के रूप और गुणों का जैसा आकर्षक वर्णन है, वह निश्चय ही भक्तों के हृदय का सर्वस्व है। कृष्ण जगत् के माता पिता धाता पितामह[2] भर्ता प्रभु शरण तथा सुहृद है।[3] उनकी शरण में आने से पापी भी तर जाते हैं, स्त्री वैश्य तथा शूद्र को भी परागति प्राप्त होती है।[4] श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है कि तुम सब कर्मों का त्याग कर एक मेरी शरण में आओ मैं तुम्हें सब पापों से मुक्त कर दूँगा।[5] इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि प्रपत्ति या शरणागति का जो सिद्धान्त 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' में प्रतिष्ठित है वही गीता में भी मान्य है।

अवतार

'श्रीमद्भगवद्गीता' में ब्रह्म के अवतार रूप में अवतीर्ण होने की प्रक्रिया निर्दिष्ट करते हुए कहा गया है कि यद्यपि ब्रह्म रूप में कभी भी व्यय या विकार नहीं होता तथापि अपनी ही प्रकृति में अधिष्ठित होकर ब्रह्म अपनी माया से जन्म लिया करता है—

> अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
> प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥[6]

इस प्रकार ब्रह्म का अवतार माया के माध्यम से होता है। संसार में आने के हेतु सामान्य जीवों की भांति ही ब्रह्म को भी पञ्चभूत त्रिगुण एवं कर्मादि का आश्रय

---

१ तेषां ज्ञानी नित्य युक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥
—श्रीमद्भगवद्गीता ७ । १७ ।

२ श्रीमद्भगवद्गीता ९ । १७ ।

३ श्रीमद्भगवद्गीता ९ । १ ।

४ मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपिस्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥
—श्रीमद्भगवद्गीता ९ । ३२ ।

५ सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥
—श्रीमद्भगवद्गीता १८ । ६६ ।

६ श्रीमद्भगवद्गीता ४ । ६ ।

लेना पड़ता है। इससे उसका ब्रह्मत्व सीमित हो जाता है। इसीलिये शंकराचार्य एवं आनन्दगिरि कृष्ण को पूर्णब्रह्म न मानकर उसका अंशभूत प्रकटीकरण मानते हैं।[1] किन्तु 'गीता' में कृष्ण को पूर्ण ब्रह्म या परमेश्वर ही निर्दिष्ट किया गया है। 'गीता' कृष्णावतार में किसी प्रकार की सीमा नहीं स्वीकार करती। गीताकार ने कृष्ण के मुख से कहलाया है कि मूढ़ लोग मेरे परम स्वरूप को नहीं जानते जो सब भूतों का महान् ईश्वर है। वे मुझे मानव तनुधारी समझकर मेरी अवहेलना करते हैं—

> अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
> परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥[2]

'गीता' में अवतार का उद्देश्य भी वर्णित है। इसमें कहा गया है कि जब जब धर्म की हानि एवं अधर्म की प्रबलता होती है तब ब्रह्म साधुओं की रक्षा एवं दुष्टों के विनाश द्वारा धर्म संस्थापना के निमित्त जन्म (अवतार) धारण करता है—

> यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
> अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
> परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
> धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥[3]

इस प्रकार गीतोक्त अवतार का उद्देश्य लोक मंगल एवं लोक कल्याण की भावना से अनुप्राणित है। भगवान् दुष्टदमन द्वारा सत्पुरुषों की रक्षा एवं धर्मरक्षा करते हैं।

योग

'गीता' में योग शब्द का प्रयोग बड़े व्यापक अर्थ में किया गया है। इसमें अनेक साधनाओं को योग से युक्त किया गया है। उदाहरणार्थ ज्ञान भक्ति कर्म ध्यान आदि के पारमार्थिक अर्थों के साथ योग शब्द जोड़ कर ज्ञान योग[4] भक्तियोग[5] कर्मयोग[6]

---

१ इण्डियन फिलासिफी प्रथम खण्ड पृ ५४४।
२ श्रीमद्भगवद्गीता ९। ११।
३ श्रीमद्भगवद्गीता ४। ७–८।
४ श्रीमद्भगवद्गीता ३। ३।
५ श्रीमद्भगवद्गीता १४। २६।
६ श्रीमद्भगवद्गीता ५। २।

ध्यानयोग[1] आदि की चर्चा अनेक स्थलों पर मिलती है। पर 'योग' के रूढ़ एवं साम्प्रदायिक अर्थ से सम्बन्ध रखने वाली सामग्री गीता के छठवें अध्याय में उपलब्ध है।

'गीता' में पातंजल योग प्रतिपादित चित्तवृत्ति के निरोध की आवश्यकता स्वीकार की गई है। इसमें 'योग' में अभ्यास से निरुद्ध चित्त की चर्चा की गई है[2] एवं चित्त निरोध के लिये अभ्यास एवं वैराग्य उपाय बताते हुये कहा गया है कि 'निःसन्देह मन चंचल है और कठिनता से वश में होने वाला है किन्तु अभ्यास और वैराग्य से वशीभूत होता है।'[3] वस्तुतः मनोजय के अभाव में योग सिद्धि संभव नहीं है। इसी की चर्चा करते हुये गीता में कहा गया है कि 'मन को वश में न करने वाले पुरुष द्वारा योग (समाधि) दुष्प्राप्य है और मन को आधीन करने वाले प्रयत्नशील पुरुष द्वारा साधन करने से (इस योग का) प्राप्त होना सहज है।'[4] योग के साम्प्रदायिक ग्रन्थों में इसी से मिलते जुलते विचार विशद व्याख्या के साथ प्रस्तुत किए गए हैं।

'उपनिषदों' की भांति ही 'गीता' में क्रियात्मक योग का वर्णन प्राप्त होता है। इसमें योग साधना में निरत होने वाले व्यक्ति के निमित्त उचित स्थान का निर्देश करते हुये कहा गया है कि 'योगी एकांत में एकाकी रह कर चित्त और आत्मा का संयम करे किसी भी वासना को न रखकर परिग्रह करके निरन्तर अपने योगाभ्यास में लगा रहे।'[5] क्रियात्मक योग के अन्तर्गत ही 'गीता' में योगी को आहार निद्रा आदि सम्बन्धी

---

१ श्रीमद्भगवद्गीता १८।५२।

२ यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥
—श्रीमद्भगवद्गीता ६।२०।

३ असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥
—श्रीमद्भगवद्गीता ६।३५।

४ असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥
—श्रीमद्भगवद्गीता ६।३६।

५. योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥
—श्रीमद्भगवद्गीता ६।१०।

आचरण का निर्देश करते हुए कहा गया है कि 'योग न तो अतिशय खाने वाले को न एकदम न खानेवाले को तथा न अति शयन करने वाले और न अत्यन्त जागने वाले को सिद्ध होता है। दु खनाशक योग तो यथा योग्य आहार विहार करने वाले तथा यथायोग्य शयन एवं जागने वाले का ही सिद्ध होता है।'[1] वस्तुत इन पंक्तियों में योगी के लिए मिताहारी होना तथा शयन आदि में अतिरेक त्याग का विधान प्रस्तुत किया गया है। 'योग' से परवर्ती ग्रन्थों में इस प्रकार के विचार अनेक स्थलों पर दृष्टिगत होते हैं।

उपनिषदों में 'योग' के जिन पडंग का वर्णन हम कर चुके हैं उनका उत्थान रूप गीता में भी वर्णित है। 'गीता' में आसन प्राणायाम इत्यादि की चर्चा करते हुए संक्षेप में कहा गया है कि योगाभ्यासी पुरुष शुद्ध स्थान पर अपना स्थिर आसन जमावें जो न बहुत ऊँचा हो न बहुत नीचा। उस पर पहले कुशा फिर मृगछाला और उसके उपरान्त वस्त्र बिछावे। वहाँ चित्त और इन्द्रियों के व्यापार को रोककर तथा मन को एकाग्र करके आ मशुद्धि के लिये आसन पर बैठ कर योग का अभ्यास करे। पीठ मस्तक और गर्दन को सम करके स्थिर होता हुआ दिशाओं को न देखे और अपनी नाक की नोक पर दृष्टि जमाकर, निडर हो शान्त अन्त करण से ब्रह्मचर्य व्रत पालन कर तथा मन का संयम क के मुझमें चित्त लगा कर मेरे परायण होता हुआ युक्त हो जाय।[2] इसके अन्तर्गत ब्रह्मचर्य का उल्लेख भी किया गया है जिसकी गणना पाँच प्रकार के यमों में की जाती है। पातंजल योग के प्रसंग में हम पर कुछ विस्तार से विचार किया जायगा।

१　नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नत ।
　न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥
　युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
　युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दु खहा ॥
　　　　　　　　—श्रीमद्भगवद्गीता ६ । १६-१७ ।

२　शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मन ।
　नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥
　तत्रैकाग्रं मन कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रिय ।
　उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥
　समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिर ।
　सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥
　प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थित ।
　मन संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्पर ॥
　　　　　　　　—श्रीमद्भगवद्गीता ६ । ११-१४ ।

'गीता' में योग प्रतिपादित समाधि का वर्णन भी किया गया है। समाधिस्थ योगी की चर्चा करते हुए कहा गया है कि जब संयत मन आत्मा में ही स्थिर हो जाता है एवं किसी भी उपभोग की इच्छा नहीं रहती तब कहते हैं कि वह मुक्त हो गया। वायु रहित स्थान में रखे हुये दीपक की ज्योति जैसी निश्चल होती है, वही उपमा चित्त को संयत करके योगाभ्यास करने वाले योगी को दी जाती है— योगानुष्ठान से चित्त जिस स्थान में रम जाता है और जहाँ स्वयं आत्मा को देखकर आत्मा में ही सन्तुष्ट हो रहता है, जहाँ बुद्धिगम्य और इन्द्रियों को अगोचर अत्यन्त सुख का उसे अनुभव होता है, और जहाँ स्थिर होकर वह तत्त्व से कभी नहीं डिगता ऐसी ही जिस स्थिति को पाने से उसकी अपेक्षा दूसरा कोई भी लाभ उसे अधिक नहीं जँचता जहाँ स्थिर होने से कोई दुःख उसे विचलित नहीं करता उसको दुःख के स्पर्श से वियोग अर्थात् योग की स्थिति कहते हैं और इसका आचरण निश्चय करना चाहिये।[1] इन श्लोकों में समाधि की दशा का वर्णन ही किया गया है।[2] इनमें कहा गया है कि समाधि से प्राप्त होने वाला सुख न केवल चित्त-निरोध से प्रत्युत चित्त-निरोध के द्वारा अपने आप आत्मा को पहचान लेने पर होता है। इस दुःख रहित स्थिति को ही 'ब्रह्मानन्द' 'आत्मप्रसादज सुख' अथवा 'आत्मानन्द' कहते हैं।[3]

---

१ यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥
यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥
यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥
तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥
—श्रीमद्भगवद्गीता ६ । १८–२३ ।

२ गीता रहस्य पृ ७४४ ।

३ गीता रहस्य पृ ७४४ ।

योग के महत्व एवं श्रेष्ठत्व का वर्णन भी 'गीता' में किया गया है। श्रीकृष्ण ने अन्य साधकों की अपेक्षा योगी के महत्व एवं श्रेष्ठत्व का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि तपस्वी लोगों की अपेक्षा योगी श्रेष्ठ है ज्ञानी पुरुषों की अपेक्षा भी श्रेष्ठ है, वह कर्मकाण्ड वालों की अपेक्षा भी श्रेष्ठ समझा जाता है। इसलिए हे अर्जुन योगी हो।[1]

---

१ तपस्विभ्योऽधिको योगी।
ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी।
तस्माद्योगी भवार्जुन॥
—श्रीमद्भगवद्गीता ६।४६।

सांख्य

पुरुष

सांख्य के अनुसार अव्यक्त पुरुष अनादिसिद्ध स्वतन्त्र और स्वयंभू है। सांख्य कारिका में इसी भाव को 'पुरुष न कार्य है और न कारण है'[1] कहकर प्रकट किया गया है। सांख्य का पुरुष त्रिगुणातीत है[2] वह विवेकी अविषयी विशेष चेतन तथा अप्रसवधर्मी है।[3] वह साक्षात् चैतन्य रूप है, चैतन्य उसका गुण नहीं है। जगत् के पदार्थ त्रिगुणसम्पन्न तथा चेतन होते हैं। इसमें त्रिगुण प्रकृति का अंश है और चैतन्य मात्र चेतन पुरुष का अंश है। पुरुष में किसी प्रकार का सदृश या विसदृश परिणाम उत्पन्न नहीं होता। इसलिए वह अविकारी कूटस्थ नित्य तथा सर्वव्यापक है। क्रियाशीलता प्रकृति का धर्म होने के कारण पुरुष वस्तुतः निष्क्रिय तथा अकर्ता है।[4] जगत् का सर्जन तो प्रकृति किया करती है पुरुष तो साक्षीमात्र या द्रष्टा है।[5] पुरुष निष्क्रिय है वह न बन्धन में पड़ता है और न मुक्त होता है।[6] त्रिगुण विलक्षण होने के कारण वह नित्य मुक्त है अर्थात् स्वभाव से ही पुरुष कैवल्य संपन्न है। इन त्रिगुणादि धर्मों की विपरीतता से ही पुरुष के साक्षित्व कैवल्य माध्यस्थ्य द्रष्टृत्व और अकर्तृ भाव आदि धर्म सिद्ध होते हैं।[7]

---

१ सांख्यकारिका गौडपाद भाष्य ३।

२ सांख्यकारिका १४।

३ सांख्यकारिका गौडपाद भाष्य ११।

४ एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥
—सांख्यकारिका ६४।

५ सांख्यकारिका गौडपाद भाष्य ६२।

६ तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः॥
—सांख्यकारिका ६२।

७ तस्माच्च विपर्यासात्सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य।
कैवल्यम्माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृ भावश्च॥
—सांख्यकारिका, १९।

सांख्य का यह मान्य सिद्धान्त है कि पुरुष अनेक हैं।[1] लोकानुभव इसके लिए सबसे उत्कृष्ट प्रमाण है। यदि पुरुषों की एकता होती तो एक व्यक्ति के जन्म लेने पर सब पुरुषों का जन्म हो जाता अथवा एक की मृत्यु पर सब मर जाते। इसी प्रकार एक व्यक्ति के अन्धे या बहिरे होने पर सभी व्यक्ति अन्धे या बहिरे हो जाते। एककालिक प्रवृत्ति का अभाव भी पुरुष-बहुत्व का साधक है। यदि पुरुष एक ही हो तो संसार के समस्त प्राणियों की प्रवृत्ति अभिन्न होनी चाहिए, पर संसार के प्राणियों की प्रवृत्ति पृथक् पृथक् दृष्टिगत होती है। त्रैगुण्य का विपर्य या अन्यथा भाव भी पुरुष-बहुत्व का समर्थक प्रमाण है। कोई सत्वबहुल कोई रजोबहुल और कोई तमोबहुल पुरुष दृष्टिगोचर होते हैं। इससे भी पुरुष की अनेकता सिद्ध होती है।[2]

सांख्य की उपर्युक्त पुरुष भावना तथा उपनिषद् एवं गीता की ब्रह्म भावना में मौलिक अन्तर है। सांख्य का पुरुष अकर्ता है। वह सृष्टि का मूल कारण नहीं है। इसके विपरीत उपनिषद् एवं गीता का ब्रह्म सृष्टि का कारणभूत तत्व है एवं उसके 'ईक्षण' से ही सृष्टि होती है। उपनिषदों का ब्रह्म आनन्दरूप है किन्तु सांख्य का पुरुष इस प्रकार की किसी विशेषता से युक्त नहीं है। इसी प्रकार सांख्य पुरुष या आत्मा की अनेकता में विश्वास करता है इसके विपरीत उपनिषद् एवं गीता में एक परमात्मा की प्रतिष्ठा है। अतएव सांख्य की पुरुष भावना तथा वेदान्त की ब्रह्म भावना पृथक्-पृथक् चिन्तन का परिणाम है। उसे एक नहीं कहा जा सकता है।

प्रकृति

सांख्य की 'प्रकृति' भावना सांख्यकारिका में भलीभाँति व्यक्त हुई है। प्रकृति के लिए ही सांख्य में 'प्रधान'[3] एवं 'अव्यक्त'[4] का प्रयोग किया गया है। सांख्य की प्रकृति अव्यक्त, स्वयम्भू और एक ही प्रकार की है। यह 'अव्यक्त' या मूल प्रकृति ही स्वतन्त्र पैदा सृष्टि का कारण है—"कारणमस्त्यव्यक्तम्"[5]। सांख्यकारिका में प्रकृति से ही महत्तत्व इत्यादि की उत्पत्ति कही गई है।[6] इस प्रकार प्रकृति सृष्टि का मूल कारण है

१ जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च ।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥
—सांख्यकारिका १८।

२ सांख्यकारिका गौडपाद भाष्य १८।

३ सांख्यकारिका २१।

४ सांख्यकारिका १।

५ सांख्यकारिका १६।

सांख्यकारिका २२।

तथा अव्यक्त या अतिसूक्ष्म होने के कारण परोक्ष है,[1] बुद्धि के द्वारा इसका प्रत्यक्ष नहीं होता। प्रकृति अनादि है, वह नित्य व्यापक और निष्क्रिय है।[2] यद्यपि प्रकृति के गर्भ में रजोगुण रहने के कारण इसमें भी क्रियाशीलता है अर्थात् परिणाम होता ही रहता है किन्तु वह परिणाम साम्यावस्था के रूप में ही रहता है। वहाँ वैषम्य उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार क्रिया के अभिव्यक्त न होने के कारण प्रधान को निष्क्रिय कहा गया है। यह प्रधान एक और अनाश्रित है इसका लय नहीं होता।[3] यह निरवयव है। यद्यपि सत्त्व रजस् एवं तमस् 'अवयव' प्रकृति में भी हैं, किन्तु ये विषम रूप में नहीं हैं। अतएव प्रकट रूप में प्रकृति में उनका एक प्रकार से न होना ही कहा जाता है। इसीलिए वह 'निरवयव' है।[4] प्रधान स्वतन्त्र है, क्योंकि वह नित्य है।[5] प्रकृति की इन विशेषताओं को 'सांख्यकारिका' में 'व्यक्त' और 'अव्यक्त' का अन्तर निर्दिष्ट करते समय स्पष्ट किया गया है।[6] 'सांख्यकारिका' में ही 'व्यक्त' एवं 'अव्यक्त' में समानता निर्दिष्ट करने के प्रसंग में प्रकृति को विवेकरहित विषय सामान्य अचेतन एवं प्रसवधर्मिणी कहा गया है।[7]

सांख्य की प्रकृति त्रिगुणात्मक है। 'सांख्यकारिका' के प्रारम्भ में कहा गया है कि सत् रज् और तम नामक तीन गुणों की साम्यावस्था ही मूलप्रकृति है।[8] इन गुणों की न्यूनाधिकता से विविध प्रकार के स्वभाव सृष्टियाँ तथा अनेक धर्मभाव उत्पन्न होते हैं और ये गुण ही पुरुष को बन्धन में जकड़ते हैं। सत रज एवं तम गुण ही क्रम से प्रकाशक प्रवर्तक एवं धारक होने से पुरुष के एकमात्र प्रयोजन या मोक्ष के साधन हो जाते हैं।[9] इस प्रकार सांख्य मत से पुरुष त्रिगुण से ही बँधता है और

---

१ सांख्यकारिका ८।

२ भारतीय दर्शन पृ २९६

३ भारतीय दर्शन पृ २९६

४ भारतीय दर्शन पृ २९६

५ भारतीय दर्शन पृ २९७

६ हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् ।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥
—सांख्यकारिका १ ।

७ सांख्यकारिका ११।

८ सांख्यकारिका भूमिका पृ ४

९ सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः ।
गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ॥
—सांख्यकारिका १३।

त्रिगुण से ही मुक्त होता है। प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि त्रिगुणात्मक प्रकृति जीव के बन्धन का कारण भी है और मोक्ष का कारण भी। यही विषय सांख्य में इस प्रकार कहा गया है कि प्रधान का प्रयत्न पुरुष के मोक्ष के लिए है।[1] पुरुष के मोक्ष के लिए अव्यक्त प्रकृति की प्रवृत्ति होती है।[2] प्रकृति नर्तकी के समान प्रत्य पुरुष को निज स्वरूप दिखा कर उसे उसके स्वरूप का ज्ञान करा देती है, जिससे पुरुष बन्धनमुक्त हो जाता है।[3] इस प्रकार सांख्य की त्रिगुणात्मक प्रकृति प्राणियों के मोक्ष की साधिका है।

सांख्य की प्रकृति तथा उपनिषदों एवं गीता की माया भावना में मौलिक अन्तर है। सांख्य की प्रकृति स्वयम्भू है उपनिषद एवं गीता की माया का कारण ब्रह्म है। 'माया' ब्रह्म की क्रियाशक्ति के रूप में सृष्टि करती है प्रकृति किसी के आधीन नहीं है। वह स्वतंत्रस्येन है। सृष्टि का मूल कारण भी वही है। 'गीता' और 'सांख्य' की माया और प्रकृति समान रूप से त्रिगुणात्मक है। 'सांख्य' की त्रिगुणात्मक 'प्रकृति' 'पुरुष' के मोक्ष सम्पादन में प्रवृत्त होती है किन्तु 'गीता' की 'माया' में ऐसी कोई क्षमता निर्दिष्ट नहीं की गई है। वस्तुतः 'प्रकृति' स्वतन्त्र है 'माया' परतन्त्र है। इसीलिए सांख्य की 'प्रकृति' में गीता एवं उपनिषदों की 'माया' की अपेक्षा अधिक क्षमताएं विद्यमान् हैं।

अनेक पुरुष

सांख्य में वर्णित 'पुरुष' के विशिष्ट धर्मों की चर्चा हम कर चुके हैं और यह कह चुके हैं कि सांख्य के अनुसार 'पुरुष' अनेक हैं। 'सांख्यकारिका' में कहा गया है कि जन्म-मरण तथा इन्द्रियों की योग्य स्थिति होने से (सब शरीरों की) एक ही समय प्रवृत्ति न होने के कारण तथा (प्रत्येक शरीर में) त्रिगुण की विपरीतता के कारण पुरुषों की अनेकता सिद्ध होती है।[4] इस प्रकार सांख्यवादियों के मतानुसार 'पुरुष' शब्द में असंख्य पुरुषों के समुदाय का समावेश होता है। इन असंख्य पुरुषों और त्रिगुणात्मक प्रकृति के संयोग से सृष्टि का समस्त व्यवहार हो रहा है। प्रत्येक पुरुष और प्रकृति

१ वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य॥
—सांख्यकारिका ५७।

२ औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्तते लोकः।
पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम्॥
—सांख्यकारिका ५८।

३ सांख्यकारिका ५९ ६१ ६४ ६५ एवं ६६।

४ सांख्यकारिका १८।

का जब संयोग होता है तब प्रकृति अपने गुणों का जाल उस पुरुष के सामने फैलाती है और पुरुष उसका उपभोग करता है। त्रिगुण का भोक्ता यह 'पुरुष' ही 'बद्धपुरुष' या 'जीवात्मा' है।[1] इस प्रकार सांख्य के अनुसार जीवात्मा एक नहीं अनेक हैं और त्रिगुणात्मक प्रकृति के कारण ये बन्धन में पड़ते हैं।

उपनिषद् एवं गीता में भी माया, अविद्या अथवा अज्ञान को जीव के बन्धन का कारण निर्दिष्ट किया गया है। पर सांख्य और वेदान्त की जीवात्मा सम्बन्धी धारणा में एक मौलिक अन्तर है। वेदान्तियों का कथन है कि उपाधि भेद के कारण सब जीव भिन्न-भिन्न ज्ञात होते हैं, परन्तु यथार्थ में सब एकमात्र ब्रह्म ही है। सांख्यवादियों का मत है कि जब हम देखते हैं कि प्रत्येक प्राणी का जन्म मृत्यु और जीवन पृथक्-पृथक् है और जब इस जगत् में हम भेद पाते हैं कि कोई सुखी है और कोई दुःखी है, तब मानना पड़ता है कि प्रत्येक आत्मा या पुरुष मूल से ही भिन्न है और उनकी संख्या भी अनन्त है।[2] इस प्रकार यह प्रकट होता है कि सांख्य में 'बद्धपुरुष' या जीव अनेक हैं जबकि उपनिषद् एवं गीता में जीव उपाधि भेद से भिन्न-भिन्न ज्ञात होते हैं परमार्थतः एक ही आत्मतत्त्व सर्वत्र है।

सांख्य का 'बद्धपुरुष' या जीवात्मा त्रिगुणात्मक प्रकृति या माया के बन्धन से देहइन्द्रियसंघात में पड़ता है। अभिनव शरीर, इन्द्रिय, मन, अहंकार, बुद्धि एवं वेदना के संघात या समुदाय के साथ पुरुष का सम्बन्ध उसका जन्म या बन्धन है और शरीर का परित्याग या सम्बन्धविच्छेद ही मरण है।[3] इसका अभिप्राय यह है कि शरीर आदि से जीव जन्म लेता है और जिसे व्यवहार में जीव का मरण कहते हैं, वह शरीर का नाशमात्र है क्योंकि पुरुष तो कूटस्थ नित्य और अनादि है।[4] उसका मरण या नाश नहीं होता। 'सांख्यकारिका' में जो कहा गया है कि लोक में चेतन पुरुष को जरा-मरण का दुःख प्राप्त होता है[5] उसका अभिप्राय यह है कि अविद्या से आच्छादित पुरुष अज्ञान के कारण लिंग शरीर और पुरुष या चैतन्य का अन्तर नहीं समझता अतएव बन्धन (दुःख) स्वाभाविक है। इस बन्धन से 'पुरुष' की मुक्ति विवेक ज्ञान

१ तत्त्व कौमुदी प्रभा पृ० ११२

२ सांख्यकारिका गौडपादभाष्य प० १८।

३ तत्त्वकौमुदी प्रभा पृ० १२१

४ तत्त्वकौमुदी प्रभा पृ० १२२

५. तत्र जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः।
   लिङ्गस्याविनिवृत्तेस्तस्माद्दुःखं स्वभावेन॥
   —सांख्यकारिका ५५।

द्वारा होती है। इस विवेक ज्ञान का स्वरूप निर्धारित करते हुए सांख्यमत में कहा गया है कि तत्त्व साक्षात्कार से जब पुरुष समझ लेता है कि न वह कर्ता है और न भोक्ता है तब संशय एवं विपर्यय से रहित विशुद्ध विवेक ज्ञान उत्पन्न होता है।[१] यही उसकी कैवल्यावस्था है, जब वह निज स्वरूप में स्थित होता है। इसे ही शास्त्र के 'पुरुष' का मोक्ष कहते हैं।

व्यक्त (जगत् कार्य)

सांख्यमत के अनुसार व्यक्त (जगत्) की उत्पत्ति अनादि एवं स्वयंभू प्रकृति से होती है। 'सांख्यकारिका' में "कारणमस्त्यव्यक्तम्"[२] के द्वारा अव्यक्त या प्रकृति को जगत् का मूल कारण कहा गया है। 'सांख्यकारिका' के गौड़पादभाष्य में भी प्रकृति को सम्पूर्णजगत्प्रसवा निर्दिष्ट किया गया है।[४] प्रकृति से जिस क्रम द्वारा जगत् या व्यक्त अभिव्यक्त होता है उसका विस्तारपूर्वक वर्णन 'सृष्टि क्रम' में किया गया है। यहाँ संक्षेप में कहा जा सकता है कि प्रकृति से क्रमशः बुद्धि अहंकार, एकादश इन्द्रियाँ तथा पञ्चतन्मात्राएँ और पञ्चतन्मात्राओं से पञ्चमहाभूत उत्पन्न होते हैं।[५] उपर्युक्त तत्त्वों में से 'व्यक्त' में महत्तत्त्व (बुद्धि) अहंकार, पञ्चतन्मात्रा एकादश इन्द्रियाँ तथा पञ्च-महाभूत नामक तेइस तत्त्व रहते हैं।[६] दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि प्रकृति का कार्य रूप जगत् या 'व्यक्त' तेइस तत्त्वों का परिणाम है। जिस प्रकार सांख्य में जगत् की उत्पत्ति प्रकृति से विज्ञापित है, उसी प्रकार जगत् का लय भी प्रकृति में माना गया है। कार्य का अपने कारण में विलीन होना ही युक्तिसंगत है। 'सांख्यकारिका' के गौड़पाद भाष्य में कहा गया है कि पृथिव्यादि भूतकार्यों का जिस मूल कारण से आविर्भाव तथा उसमें लय होता है वह मूल कारण अव्यक्त प्रधान अथवा प्रकृति है। जिस प्रकार कच्छप के हाथ पैर इत्यादि शरीर के अवयव उसके शरीर में रहते हुए भी बाहर निकलते तथा भीतर पैठ जाते हैं, उसी प्रकार प्रधान कारण में विद्यमान महदादि कार्यों की उत्पत्ति तथा उनमें लय होता है।[७] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्त या जगत् की उत्पत्ति एवं लय स्थान प्रकृति ही है।

---

१ सांख्यकारिका गौड़पाद भाष्य ६१।
२ तत्त्वकौमुदी प्रभा पृ २२।
३ सांख्यकारिका १६।
४ सांख्यकारिका गौड़पाद भाष्य ३।
५ सांख्यकारिका २२।
६ सांख्यकारिका गौड़पाद भाष्य ३।
७ सांख्यकारिका गौड़पाद भाष्य १६।

सांख्य में 'व्यक्त' के गुण या धर्मों का वर्णन भी किया गया है। सांख्यकारिका में कहा गया है कि व्यक्त कारणयुक्त, अनित्य अव्यापक क्रियासहित अनेक रूपात्मक आश्रित लिंग अवयव सहित एवं परतन्त्र है।[1] इसका अभिप्राय यह है कि 'व्यक्त' कार्य अपने 'कारण' से आविर्भूत होते हैं। वे 'अनित्य' अर्थात् परिवर्तनशील हैं इनका तिरोभाव भी होता है। व्यापक होने से क्रिया न होगी इसलिए व्यक्त एकदेशीय या 'अव्यापक' हैं। वे सक्रिय हैं, अर्थात् 'क्रियायुक्त' हैं। गुणों के कारण 'व्यक्त' नाना रूप को अभिव्यक्त करते हैं। सृष्टि भेद से भिन्न-भिन्न होने से भी व्यक्त 'अनेक रूपात्मक' हैं। प्रत्येक व्यक्त अपने-अपने कारणों में 'आश्रित' हैं जैसे महत्तत्त्व प्रधान में अहङ्कार बुद्धि में। वे 'लिंग' हैं अर्थात् व्यक्त कार्य अव्यक्त के ज्ञापक या सूचक हैं। इनमें सत रज और तमोगुण का मेल है इसलिए ये 'सावयव' हैं। प्रत्येक व्यक्त अपने अस्तित्व के लिए अपने कारण पर निर्भर है। अतएव ये 'परतन्त्र' हैं। 'सांख्यकारिका' में व्यक्त एवं अव्यक्त में समानता निर्दिष्ट करते समय व्यक्त को त्रिगुण अविवेकी विषय सामान्य अचेतन एवं प्रसवधर्मी कहा गया है।[2] इस कथन का अभिप्राय यह है कि व्यक्त तीनों 'गुणों' से युक्त है। जड़ प्रकृति का कार्य होने के कारण 'अविवेकी' है अर्थात् स्वयं अपने को दूसरों से पृथक नहीं कर सकते हैं। ज्ञान से भिन्न और सबके भोग की वस्तु होने के कारण 'विषय' है। अनेक साधारण व्यक्तियों के लिए इनका प्रयोजन होने के कारण 'सामान्य' है। पुरुष से भिन्न होने के कारण ये जड़ या 'अचेतन' है। समान तथा असमान परिणाम को सतत उत्पन्न करने के कारण व्यक्त 'प्रसवधर्मि' है। इससे यह प्रकट होता है कि सांख्य में जगत् कार्य या व्यक्त सम्बन्धी विचारधारा सृष्टि के पच्चीस तत्त्वों में से पुरुष-प्रकृति को छोड़ कर तेइस तत्त्वों की मीमांसा द्वारा व्यक्त हुई है। इन तेइस तत्त्वों को ही सांख्य में व्यक्त अथवा जगत कार्य कहते हैं। यह तेइस तत्त्वरूप दृश्य जगत प्रकृति और पुरुष के संयोग का फल है।[3] सृष्टि के निमित्त दोनों का संयोग अवश्य होता है किन्तु पुरुष के अकर्ता होने से जगत की अभिव्यक्ति प्रकृति ही करती है। इसीलिए सांख्यकारिका के आधार पर प्रारम्भ में ही प्रतिपादित किया जा चुका है कि जगत या सृष्टि का मूल कारण प्रकृति है।

सांख्य एवं उपनिषद-गीता की जगत भावना में मुख्य अन्तर यह है कि उपनिषद् एवं गीता में जगत का मूल कारण ब्रह्म माना गया है इसके विपरीत सांख्य में जड़

---

१ हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्॥
—सांख्यकारिका १ ।

२ त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
—सांख्यकारिका ११।

३ दर्शन संग्रह पृ १५

प्रकृति को समस्त कार्य का मूल कारण निर्दिष्ट किया गया है। उपनिषद एवं गीता में प्रकृति रूप माया ब्रह्म के अधिष्ठान में सृष्टि कार्य करती है किन्तु सांख्य के अनुसार प्रकृति पुरुष से रचना हेतु संयुक्त अवश्य होती है पर वह स्वतंत्र है और कारणभूत तत्त्व होने के कारण समस्त जगत उसी से अभिव्यक्त होता है।

सृष्टि क्रम

सांख्य के अनुसार प्रकृति और पुरुष के संयोग से विश्व की सृष्टि होती है।[1] प्रकृति के जड़ होने के कारण यह संसार केवल उससे उत्पन्न नहीं हो सकता न स्वभावतः निष्क्रिय पुरुष से ही। इसलिए प्रकृति एवं पुरुष का संयोग सृष्टि कार्य में अपेक्षित है। प्रकृति एवं पुरुष का सृष्टि के निमित्त संयोग अवश्य होता है किन्तु सृष्टि प्रकृति ही करती है। इसका कारण यह है कि पुरुष स्वभाव से ही अकर्ता निष्क्रिय और निर्लिप्त है। इसीलिए सांख्यमत के अनुसार सृष्टि का मूल कारण और कर्ता अव्यक्त, प्रधान अथवा प्रकृति है।[2] सांख्यकारिका में सृष्टि-क्रम का वर्णन करते हुए प्रतिपादित किया गया है कि प्रकृति से महत्तत्त्व (बुद्धि) महत् से अहंकार और अहंकार से (एकादश इन्द्रियाँ तथा पञ्चतन्मात्रायें) षोडश तत्त्वों का समूह उत्पन्न होता है। इन षोडश तत्त्वों की पञ्चतन्मात्राओं से पञ्चमहाभूत उत्पन्न होते हैं।[3] निम्नांकित रूप से सांख्य का सृष्टि क्रम स्पष्ट हो जायगा—
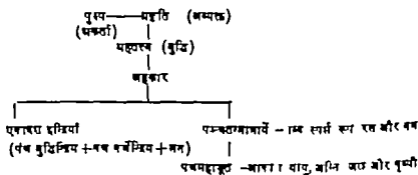
```
पुरुष ———प्रकृति   (अव्यक्त)
(अकर्ता)    |
         महत्तत्त्व  (बुद्धि)
             |
          अहंकार
             |
 ____________|_______________________
|                                    |
एकादश इन्द्रियाँ                      पञ्चतन्मात्रायें — शब्द स्पर्श रूप रस और गन्ध
(पंच बुद्धिन्द्रिय + पंच कर्मेन्द्रिय + मन)   |
                                     पञ्चमहाभूत —आकाश। वायु, अग्नि जल और पृथ्वी
```

---

१ सांख्यकारिका २१।

२ सांख्यकारिका १६।

३ प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ॥
—सांख्यकारिका २२।

सांख्य के उपर्युक्त सृष्टि-क्रम में भी सूक्ष्म तत्त्व क्रमशः स्थूल में परिणत हुआ है। प्रकृति अव्यक्त एवं सूक्ष्म है,[1] महत्तत्त्व भी अव्यक्त और सूक्ष्म है,[2] अहंकार व्यक्त और सूक्ष्म है,[3] एकादश इन्द्रियाँ भी व्यक्त और सूक्ष्म हैं,[4] पंचतन्मात्राएं सूक्ष्म हैं[5] तथा इनसे उत्पन्न होने वाले पंचभूत स्थूल हैं।[6] इस सृष्टि-क्रम और उपनिषदों के सृष्टि क्रम में अन्तर यह है कि उपनिषदों में सृष्टि का कारण ब्रह्म है, जबकि सांख्य में स्वयंभू और अनादि प्रकृति को मूल कारण कहा गया है।

जीवन्मुक्ति

सांख्यमत भी जीवन्मुक्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। सांख्य में कहा गया है कि पुरुष एवं प्रकृति नित्य हैं एवं इन दोनों का सम्बन्ध अनादि काल से है।[7] 'पुरुष' का बिम्ब प्रकृति पर पड़ता है जिससे 'प्रकृति' अपने को चेतनवत् समझने लगती है। व्युत्क्रम रूप से बुद्धि के स्वरूप का आभास पुरुष पर भी पड़ता है जिससे निष्क्रिय एवं निर्लिप्त पुरुष भी कर्ता भासित होता है।[8] पुरुष एवं प्रकृति के इस आरोपित एवं आभासमान सम्बन्ध को बन्धन कहते हैं।[9] इसी बन्धन को दूर करके पुरुष को अपने स्वरूप का ज्ञान होना विवेक बुद्धि है।[10] विवेक बुद्धि प्राप्त होने पर पुरुष अपने स्वरूप को पहचान कर अपने को निष्क्रिय निर्लिप्त तथा निस्संग समझने लगता है।[11] विवेक ज्ञान की दशा में प्रकृति के सत्त्वादिकों का प्रभाव नष्ट हो जाता है, तब सृष्टि का कोई

---

१ गीता रहस्य पृ १८६
२ गीता रहस्य पृ० १८६
३ गीता रहस्य पृ १८६
४ गीता रहस्य पृ १८६
५. गीता रहस्य पृ १८६
६ गीता रहस्य, पृ १८६
७ भारतीय दर्शन पृ ११
८ तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्।
गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासीनः॥
—सांख्यकारिका २
९. भारतीय दर्शन पृ ११
१० सांख्यकारिका गौडपाद भाष्य पृ २५
११ एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥
—सांख्यकारिका ६४

प्रयोजन नहीं रहता। सृष्टि के उद्देश्य की पूर्ति हो जाने पर प्रकृति निरुद्ध हो जाती है और पुरुष कैवल्य को प्राप्त होता है। परन्तु प्रारब्ध कर्मों व पूर्वजन्म के संस्कारों के कारण कैवल्य प्राप्त पुरुष के शरीर का उसी समय पतन नहीं होता। सांख्यकारिका[1] में इसको स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि तत्वज्ञान हो जाने पर धर्मादि में कार्यारम्भक शक्ति नहीं रहती फिर भी पूर्व संस्कारवश पुरुष शरीर में स्थित रहता है जैसे कुम्हार द्वारा डंडा हटा लेने पर भी चक्र घूमता रहता है।[2] यही सांख्य द्वारा प्रतिपादित जीवन्मुक्ति का सिद्धान्त है।

'सांख्य' के अनुसार विवेक ज्ञान के उत्पन्न होने पर पुरुष अपने यथार्थ स्वरूप को पहचान कर कैवल्यावस्था प्राप्त करता है। यही उसकी जीवन्मुक्त दशा है। इस अवस्था में वह पूर्व संस्कारवश देह में स्थित रहता है अर्थात् प्रारब्ध कर्म के क्षय पर्यन्त उसका देहपात नहीं होता। प्रारब्ध कर्म के क्षय होने पर उसके शरीर का पतन होता है तब पुरुष को अविनाशी कैवल्यपद प्राप्त होता है जिसे सांख्य में विदेह कैवल्य कहते हैं।

मन

सांख्य के 'सृष्टि क्रम' में हम प्रतिपादित कर चुके हैं कि प्रकृति से बुद्धि बुद्धि से अहंकार एवं अहंकार से पंचतन्मात्राओं के अतिरिक्त पाँच बुद्धिन्द्रियाँ पाँच कर्मेन्द्रिय एवं मन की उत्पत्ति होती है।[3] मन ज्ञानेन्द्रियों के साथ संकल्प विकल्पात्मक होता है और कर्मेन्द्रियों के साथ व्याकरणात्मक होता है अर्थात् यह बुद्धि के निर्णयों को कर्मेन्द्रियों द्वारा कार्यरूप में लाना पड़ता है। वस्तुतः मन ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय उभय स्वरूप है। इसका कारण यह है कि चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रिय तथा वागादि कर्मेन्द्रिय दोनों ही मन के आधार ही से अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त होती हैं। इस मन का लक्षण है-संकल्प विकल्प करना। इसका अभिप्राय यह है कि बाह्य न्द्रियों से पदार्थों का सामान्य रूप से प्रत्यक्ष होने से 'यह ऐसा है' अथवा यह 'ऐसा नहीं है' इस प्रकार भली भाँति विवेचन मन ही करता है। इसीलिए सकल्प रूप विशिष्ट धर्म से मन भी एक उभयात्मक

---

१ सांख्यकारिका ६४-६६।

२ सम्यग्ज्ञानाधिगमाद्धर्मादीनामकारणप्राप्तौ।
तिष्ठति संस्कारवशाच्चक्रभ्रमिवद्धृतशरीरः॥
—सांख्यकारिका ६७।

३ सांख्यकारिका ८।

४ सांख्यकारिका २२।

इन्द्रिय सिद्ध होता है। सांख्यकारिका' में अन्यत्र मन का विशेष व्यापार संकल्प करना ही निर्दिष्ट किया गया है।[1] उपनिषदों के प्रसंग में हम स्पष्ट कर चुके हैं कि वहाँ भी मन समस्त सङ्कल्पों का अयन कहा गया है।

ज्ञान

सांख्य में ज्ञान का अभिप्राय व्यवहार ज्ञान या धार्मिक ज्ञान नहीं है अपितु तत्त्व ज्ञान है। 'सांख्यकारिका' के गौड़पादभाष्य में कहा गया है कि सांख्य शास्त्र के ज्ञान से उत्पन्न तत्त्वज्ञान से आत्यन्तिक दुःख का उच्छेद हो सकता है।[2] यह तत्त्व ज्ञान व्यक्त, अव्यक्त तथा पुरुष अर्थात् महदादि कार्य प्रकृति तथा आत्मा—इन तीन प्रकार के पदार्थों के ज्ञान से होता है।[3] इसमें भी प्रकृति पुरुष ज्ञान मुख्य है, क्योंकि प्रकृति-पुरुष ज्ञान ही सांख्य द्वारा प्रतिपादित विवेक ज्ञान है। इसी को ध्यान में रखकर गौड़पाद ने कहा है कि सांख्यशास्त्र में प्रकृति तथा पुरुष के भेद ज्ञान को ज्ञान माना गया है।[4] यहाँ ज्ञान से विवेक ज्ञान ही विवक्षित है, क्योंकि सांख्यमत में यह माना गया है कि इस भेद ज्ञान से ही पुरुष प्रकृति का ज्ञाता होता है।[5] पुरुष प्रकृति के ज्ञान से ही आत्मा की निज स्वरूप में स्थिति होती है और यही विशुद्ध एवं अभिभिन्न विवेक ज्ञान कहलाता है। इस विवेक ज्ञान के उदय होने पर ही पुरुष मुक्त होता है। सांख्यकारिका' में 'ज्ञानेन चापवर्गो' इत्यादि द्वारा यही कहा गया है कि ज्ञान रूप निमित्त से अपवर्ग (मुक्ति) रूप कार्य होता है।

---

१ उभयात्मकमत्र मनः संकल्पकमिन्द्रियं च साधर्म्यात्।

—सांख्यकारिका २७।

२ सांख्यकारिका गौड़पादभाष्य २९।
३ सांख्यकारिका गौड़पादभाष्य १।
४ सांख्यकारिका, गौड़पादभाष्य २।
५ सांख्यकारिका गौड़पादभाष्य २१।
६ सांख्यकारिका गौड़पादभाष्य ६९।
७ सांख्यकारिका गौड़पादभाष्य ६४।
८ सांख्यकारिका गौड़पादभाष्य ४४।

पातंजल योग

पातंजलि मुनि द्वारा प्रतिपादित योग 'पातंजल दर्शन' के नाम से विख्यात है। पातंजल योग दर्शन चार पादो मे विभाजित है।

१ समाधि पाद
२ साधन पाद
३ विभूति पाद
४ कैवल्य पाद

१ प्रथम पाद समाधि पाद है। ग्रन्थ के प्रारम्भ मे योग की परिभाषा करते हुए पातंजल मुनि ने चित्तवृत्तियो के निरोध को योग कहा है।[1] इसके अनन्तर चित्तवृत्ति के पाँच भेद एवं उनके लक्षणो की चर्चा की गई है। ये पाँच प्रकार की चित्तवृत्तियाँ (१) प्रमाण (२) विपर्यय (३) विकल्प (४) निद्रा (५) स्मृति है।[2] सूत्र ७ से लेकर ११ तक इनके लक्षणो की चर्चा है। सूत्रकार ने चित्तवृत्तियो के निरोध के उपायो मे अभ्यास एवं वैराग्य का उल्लेख किया है[3] तथा १३ से लेकर १६ सूत्रो मे इनके भेद एवं लक्षणों की चर्चा की है। तत्पश्चात् सम्प्रज्ञात योग का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि वितर्क विचार, आनन्द और अस्मिता सम्प्रज्ञात योग है।[4] संप्रज्ञात योग से भिन्न कैवल्यावस्था का वर्णन करते हुए सूत्रकार ने कहा है कि विराम प्रत्यय का अभ्यास जिसकी पूर्व अवस्था है एवं जिसमे चित्त का स्वरूप संस्कार मात्र ही शेष रहता है वह योग अन्य है[5] अर्थात् संप्रज्ञात योग से भिन्न है। आगे चलकर इसी कैवल्यावस्था अथवा निर्बीज समाधि का वर्णन १।५१ सूत्र मे किया गया है।

---

१ योगश्चित्तवृत्ति निरोधः
योग दर्शन १।२

२ प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः
योग दर्शन १।६

३ अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः
योग दर्शन १।१२

४ वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात्सम्प्रज्ञातः
योग दर्शन, १।१७

५ विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः
योग दर्शन, १।१८

इस पाद में निर्बीज समाधि का उपाय पर-वैराग्य बता कर, दूसरा उपाय ईश्वर शरणागति बताया गया है।[1] यह उपाय वैराग्य की अपेक्षा सरल है। इसके उपरान्त सूत्रकार ने योग के विघ्नों का विस्तारपूर्वक वर्णन करने के बाद कहा है कि इनको दूर करने के लिए एक तत्व का अभ्यास अपेक्षित है।[2] इसी क्रम मे पातंजलि मुनि ने चित्त की स्थिरता के निमित्त उसे निर्मल करने के उपायो मे प्राण वायु की चर्चा करते हुए कहा है कि प्राण वायु को बार-बार बाहर निकालने एवं रोकने के अभ्यास से भी चित्त निर्मल होता है। चित्त को स्थिर करने के विभिन्न साधनो का विस्तार से वर्णन करने के उपरान्त सम्प्रज्ञात समाधि[4] एव उसके दो भेदों की चर्चा है।[5] इनमें सवितर्क योग पूर्वावस्था है जिसमें विवेक ज्ञान नही होता। दूसरे निर्वितर्क योग मे विवेक ज्ञान प्रगट होता है। इसके अतिरिक्त पुरुष एव प्रकृति के यथार्थ रूप का ज्ञान होने से साधक की गुणों एवं उनके कार्य के प्रति आसक्ति नहीं रहती। वस्तुत: इस अवस्था मे उसके चित्त मे कोई भी वृत्ति नहीं रहती। यह सर्ववृत्ति निरोध रूप निर्बीज समाधि है।[6] इसे निर्बीज समाधि इसलिए कहते हैं कि इसमे ससार के बीज का सर्वथा अभाव हो जाता है जिससे कैवल्यावस्था प्राप्त होती है।

२. द्वितीय पाद साधन पाद है। इसके प्रारम्भ मे तप स्वाध्याय और ईश्वर शरणागति को क्रियायोग बताया गया है।[7] द्वितीय सूत्र मे क्रियायोग के फल का निर्देश करते हुये कहा गया है कि यह समाधि की सिद्धि कराने वाला और अविद्यादि क्लेशों

---

१ ईश्वरप्रणिधानाद्वा

योग दर्शन १। २३।

२ तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः

योग दर्शन, १। ३२।

३ प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य

योग दर्शन १। ३४।

४ क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः

योग दर्शन १। ४१।

५. तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः
स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का

योग दर्शन १। ४२-४३।

६ तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः

योग दर्शन १। ५१।

७. तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः

योग दर्शन २। १।

को क्षीण करने वाला है।[1] इसके बाद सूत्रकार ने अविद्या आदि पाँच क्लेशों का वर्णन किया है।[2] वस्तुतः द्वितीय पाद में अविद्या आदि पंच क्लेश को समस्त दुःखों का कारण कहा गया है। अविद्याजनित कर्म संस्कारों का नाम ही कर्माशय है और इस कर्माशय के कारणभूत क्लेश जब तक रहते हैं तब तक जीव को उनका फल भोगने के लिए आवागमन चक्र में पड़ना पड़ता है। इसी को ध्यान में रखकर सूत्रकार ने कहा है कि क्लेशमूलक कर्म संस्कारों का समुदाय दृष्ट और अदृष्ट दोनों प्रकार के जन्मों में भोगा जाने वाला है।[3] 'दृष्ट और अदृष्ट' का अभिप्राय वर्तमान एवं भविष्य में होने वाले जन्मों से है। इसी सम्बन्ध में पाप एवं पुण्य कर्म का फल हर्ष शोक या सुख दुःख रूप में माना गया है।[4] सूत्रकार ने विवेकी के लिए समस्त कर्मफल को दुःखरूप बताया है[5] एवं दुःख से निवृत्ति पाने के निमित्त क्लेशमूलक कर्मसंस्कारों का मूलोच्छेद आवश्यक माना है। इस पाद में उसके नाश का उपाय निश्चल और निर्मल विवेक ज्ञान बताया गया है।[6] इस विवेक ज्ञान की प्राप्ति के हेतु योग सम्बन्धी आठ अंगों के अनुष्ठान से अशुद्धि के नाश होने पर ज्ञान का प्रकाश विवेकख्याति पर्यन्त हो जाता है।

इसी पाद में सूत्रकार ने अष्टांग योग का वर्णन किया है। ये यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार, धारणा ध्यान और समाधि हैं।[7] यम में अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की परिगणना है। शौच सन्तोष तप स्वाध्याय और ईश्वर

---

१ समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च
　　　　योग दर्शन २।२।
२ अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः।
　　　　योग दर्शन २।३
३ क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः
　　　　योग दर्शन २।१२।
४ ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात्
　　　　योग दर्शन २।१४।
५ दुःखमेव सर्वं विवेकिनः
　　　　योग दर्शन २।१५
६ विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः
　　　　योग दर्शन २।२६
७ यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।
　　　　योग दर्शन २।२९।
८ अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः
　　　　योग दर्शन २।३ ।

प्रणिधान नियम हैं।[1] निश्चल सुखपूर्वक बैठने का नाम आसन है।[2] आसन की सिद्धि होने के उपरान्त श्वास और प्रश्वास की गति का रुक जाना प्राणायाम है। सूत्रकार ने प्राणायाम के तीन प्रकार बताते हुए कहा है कि वह बाह्यवृत्ति आभ्यन्तरवृत्ति और स्तम्भवृत्ति होता है।[4] योग के परवर्ती साम्प्रदायिक ग्रन्थों में ये भेद रेचक पूरक तथा कुम्भक नाम से अभिहित किये गये हैं। सूत्रकार ने इन तीन से भिन्न चौथे प्राणायाम का उल्लेख करते हुए कहा है कि बाह्य और आभ्यन्तर के विषयों का त्याग कर देने से स्वत. होने वाला प्राणायाम चतुर्थ है।[5] वस्तुत यह अनायास होने वाला राजयोग का प्राणायाम है जिसमे मन की चंचलता नष्ट होने के कारण अपने आप प्राणों की गति रुकती है।[6] 'प्राणायाम' के उपरान्त प्रत्याहार का वर्णन करते हुए कहा गया है कि अपने विषयों के सम्बन्ध से रहित होने पर जो इन्द्रियों का चित्त के स्वरूप में तदाकार सा हो जाना है वह प्रत्याहार है।[7] प्रत्याहार से योगी की इन्द्रियाँ सर्वथा उसके वश मे हो जाती हैं और इसी को सूत्रकार ने इन्द्रियों की 'परमवश्यता' कहा है।[8]

इस प्रकार 'योग दर्शन' के द्वितीय पाद मे योगांगों का वर्णन प्रारम्भ करके यम नियम आसन प्राणायाम और प्रत्याहार नामक पाँच बहिरंग साधनों का वर्णन किया गया है। शेष धारणा ध्यान और समाधि नामक अन्तरंग साधनों का वर्णन तृतीय पाद म है।

---

१ शौचसंतोषतप. स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमा

योग दर्शन २ । ३२

२. स्थिरसुखमासनम

योग दर्शन २ । ४६

३ तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेद प्राणायाम

योग दर्शन २ । ४९

४ बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभि परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्म

योग दर्शन, २ । ५

५. बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थ

योग दर्शन २ । ५१

६ पातञ्जलयोग दर्शन पृ १ १।

७ स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहार

योग दर्शन २ । ५४

८ तत परमावश्यतेन्द्रियाणाम

योग दर्शन २ । ५५

३ तृतीय पाद विभूतिपाद है। सर्वप्रथम धारणा का स्वरूप निर्दिष्ट करते हुए सूत्रकार ने कहा है कि किसी एक देश मे चित्त को स्थिर करना धारणा है। जहाँ चित्त को लगाया जाय उसी मे वृत्ति का एकतार चलना ध्यान है।[2] जब ध्यान में केवल ध्येयमात्र की ही प्रतीति होती है और चित्त का निज स्वरूप शून्य सा हो जाता है तब वही (ध्यान) समाधि हो जाता है।[3] ध्यान की प्रक्रिया मे जब चित्त ध्येयाकार मे परिणत हो जाता है एवं उसके निज स्वरूप का अभाव सा हो जाता है तथा उसकी ध्येय से भिन्न स्थिति नही होती उस समय ध्यान ही समाधि हो जाता है। यही लक्षण प्रथम पाद में निर्वितर्क समाधि (यो सू १।४३) कहे गए है।

धारणा ध्यान और समाधि का एकत्रित या सांकेतिक नाम 'संयम' है। वस्तुतः जब किसी एक ध्येय विषय मे यह तीनो पूर्णतया किए जाते है तब इसको 'संयम' कहते है।[4] सूत्रकार ने द्वितीय पाद मे कथित यम नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार नामक पाँच साधनो की अपेक्षा धारणा ध्यान और समाधि नामक तीन साधनो को अन्तरंग कहा भी है।[5] पर निर्बीज समाधि की दृष्टि से ये भी बहिरंग साधन है,[6] क्योंकि उसमे सब प्रकार की वृत्तियो का अभाव किया जाता है समाधिप्रज्ञा के संस्कारो का भी निरोध हो जाता है[7] तथा किसी भी ध्येय मे चित्त को स्थिर करने का अभ्यास नही किया जाता है। इसी क्रम मे सूत्रकार ने विस्तार से भिन्न भिन्न ध्येय पदार्थों मे 'संयम' करने का भिन्न-भिन्न फल बताया है। इन ध्येय पदार्थों मे नाभिचक्र (३।२९) कंठकूप (३।३०) कूर्म नाडी (३।३१) मूर्धा ज्योति (३।३२) हृदय (३।३४) आदि उल्लेख्य है क्योंकि साम्प्रदायिक योग मे इनका महत्त्व समादृत है।

---

१ देशबन्धश्चित्तस्य धारणा
योग दर्शन ३।१

२ तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्
योग दर्शन ३।२

३ तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः
योग दर्शन ३।३

४ त्रयमेकत्र संयमः
योग दर्शन ३।४

५ त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः
योग दर्शन ३।७

६ तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य।
योग दर्शन ३।८

७ पातञ्जल योग दर्शन १।५१।

८ पातञ्जल योग दर्शन ३।११-१२।

ध्येय पदार्थों में संयम करने से योगी के सम्मुख आने वाली सिद्धियाँ छः हैं प्रातिभ श्रावण वेदन आदर्श आस्वाद और वार्ता। साधक के लिए इन सिद्धियों का त्याग विधेय है क्योंकि ये उसके साधन मे विघ्नरूप हैं। किन्तु जिसका प्रयोजन आत्मज्ञान या समाधि नहीं है, उसके हेतु ये अवश्य सिद्धियाँ हैं। इसी को ध्यान मे रखकर सूत्रकार ने कहा है कि ये (सिद्धियाँ) समाधि की सिद्धि (पुरुष ज्ञान) मे विघ्न हैं और व्युत्थान में सिद्धियाँ हैं।[१] इसी पाद मे अन्यत्र[२] एवं चतुर्थ पाद[४] मे इनको समाधि मे विघ्नरूप माना गया है। साधक के लिए इनका प्रयोजन वर्जित है।

तृतीय पाद में ही भिन्न भिन्न संयमो से भिन्न-भिन्न प्रकार की उपलब्धित क्रिया-शक्तियों का वर्णन किया गया है।[५] इस सम्बन्ध में सूत्रकार ने उदान (३।३९) एवं समान (३।४०) वायु की चर्चा की है जिसका परवर्ती योग ग्रन्थों में पुरिक उल्लेख किया गया है। तत्पश्चात सबीज[६] एवं निर्बीज समाधि रूप कैवल्य[७] की चर्चा करने के उपरान्त सूत्रकार ने विवेक ज्ञान का वर्णन करते हुये उसे भवसागर से तारनेवाला सबका ज्ञाता एवं सब प्रकार का ज्ञाता आदि विशेषताओं से युक्त बताया है।[८] इस विवेक ज्ञान से कैवल्य होता है पर कैवल्य दूसरे प्रकार के विवेक द्वारा भी होता है जिसका इस पाद के अन्तिम सूत्र मे वर्णन है। वहाँ कहा गया है कि बुद्धि और पुरुष की जब समान भाव से शुद्धि हो जाती है तब कैवल्य होता है।[९] इसका अभिप्राय यह है कि जब बुद्धि शुद्ध होकर अपने कारण मे विलीन होने लगती है एवं पुरुष का बुद्धि के

---

१ ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते।
योग दर्शन ३। ३६।

२ ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः।
योग दर्शन ३। ३७

३ पातञ्जलयोग दर्शन ३। ५ -५१।

४ " " ४। २९।

५ " " ३। ३८ ४८ एवं ५२-५३।

६ सत्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वञ्च।
योग दर्शन ३। ४९

७ तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्।
योग दर्शन ३। ५०

८ तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्।
योग दर्शन ३। ५४

९ सत्व पुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्।
योग दर्शन, ३। ५५

साथ अनादिकृत सम्बन्ध और तन्मूल मन विशेष आवरण का अभाव हो जाता है तब पुरुष भी निर्मल हो जाता है। इस प्रकार दोनों की समान रूप से शुद्धि ही कैवल्य है।

४ चतुर्थ पाद कैवल्य पाद है। इसके प्रारम्भ में तृतीय परिच्छेद में वर्णित सिद्धियों के अतिरिक्त जन्म औषधि मंत्र तप और समाधि से होने वाली सिद्धियों की चर्चा है। तत्पश्चात् समाधि द्वारा सिद्ध हुए चित्त की विशेषता का वर्णन करते हुए सूत्रकार ने कहा है कि ध्यानजनित चित्त कर्म संस्कारों से रहित होता है।[२] इसी क्रम में योगी के कर्मों की विलक्षणता का प्रतिपादन करते हुये कहा गया है कि योगी के कर्म अशुक्ल तथा अकृष्ण होते हैं।[३] यहाँ पुण्य कर्मों को शुक्ल एवं पाप कर्मों को कृष्ण कहा गया है। सिद्ध योगी का चित्त कर्म संस्कार शून्य होता है इसलिए वह पूर्व पुण्य कृष्ण शुक्ल किसी प्रकार के कर्मों से सम्बन्ध नहीं रखता। योगी के विपरीत साधारण मनुष्य के कर्म तीन प्रकार के होते हैं। इन्हें शुक्ल या पुण्य कर्म कृष्ण या पाप कर्म तथा शुक्ल कृष्ण या पुण्य पाप मिश्रित कर्म कहा गया है।[४] साधारण मनुष्यों के इन कर्मशयों के सम्बन्ध में कहा गया है कि उन कर्मों से उनके फलभोगानुकूल वासनाओं की ही अभिव्यक्ति या उत्पत्ति होती है।[५] इसके विपरीत योगी कर्म संस्काररहित होने के कारण फल भोग के अनुकूल वासनाओं से मुक्त रहता है।

सूत्रकार ने योग दर्शन के सिद्धान्त में समाविष्ट सत्त्वों पर दृष्टिपात करने के उपरान्त दृश्य वस्तुओं से चित्त की भिन्न सत्ता सिद्ध करके द्रष्टा पुरुष से भी चित्त की भिन्न सत्ता सिद्ध की है।[६] चित्त एवं आत्मा की भिन्नता का युक्तियों द्वारा प्रतिपादन करके आत्मा के स्वरूप को समझाने के हेतु समाविष्ट योगी द्वारा उसके प्रत्यक्ष दर्शन की पहचान बताते हुए सूत्रकार ने कहा है कि चित्त और आत्मा के भेद को प्रत्यक्ष कर

---

१ जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धयः
                                        योग दर्शन ४। १
२ तत्र ध्यानजमनाशयम् ।
                    योग दर्शन ४। ६
३ कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनः ।
                    योग दर्शन ४। ७
४ पातञ्जल योगदर्शन पृ १६६।
५ ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् ।
                                        योग दर्शन ४। ८
६ पातञ्जल योग दर्शन ४। १८—२४।

लने वाले योगी की आत्मभावविषयक भावना सर्वथा निवृत्त हो जाती है। अर्थात् समाधिस्थ योगी का विवेक ज्ञान द्वारा अपने स्वरूप का संशयरहित प्रत्यक्ष अनुभव करने के उपरान्त आत्मज्ञान के विषय का चिन्तन सर्वथा मिट जाता है। उस समय योगी का चित्त विवेक में निम्न हुआ कैवल्य के अभिमुख हो जाता है।[२] दूसरे शब्दों में यह अपने कारण में विलीन होना प्रारम्भ कर देता है क्योंकि चित्त का अपने कारण में विलय होना और निज स्वरूप में स्थित होना ही कैवल्य है। यह सदा अन्तरायहीन निरन्तर उदित विवेक ज्ञान की अपेक्षा रखती है जिनके प्राप्त होने पर धर्ममेघ समाधि सिद्ध होती है।[३] इसमें क्लेश एवं कर्मों का सर्वथा नाश हो जाता है।[४] अतएव गुणों के परिणाम क्रम की समाप्ति अर्थात् पुनर्जन्म का अभाव होता है।[५] पुरुष को मुक्ति प्रदान करके अपना कर्तव्य पूर्ण करने के कारण गुण के कार्य अपने कारण में मिल जाते हैं अर्थात् पुरुष से सर्वथा विलग होना गुणों की कैवल्य स्थिति है और उन गुणों से सर्वथा वियुक्त होकर निज स्वरूप में प्रतिष्ठित होना पुरुष की कैवल्य दशा है।[६] दूसरे शब्दों में त्रिगुणात्मिका प्रकृति एवं पुरुष के वियोग को ही कैवल्य दशा या मोक्ष कहा गया है। इस प्रकार कैवल्य का स्वरूप निर्दिष्ट करके पातंजल योग शास्त्र समाप्त किया गया है।

---

१ विशेषदर्शिन आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः ।

योग दर्शन ४ । २५

२ तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ।

योगदर्शन ४ । २६

३ प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः

योग दर्शन ४ । २९

४ ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ।

योग दर्शन ४ । ३०

५ परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम् ।

योग दर्शन ४ । ३२

६ पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति

योग दर्शन ४ । ३४

नाथ-सम्प्रदाय

ब्रह्म (परमतत्त्व)

नाथ-सम्प्रदाय में ब्रह्म का 'अव्यक्त' स्वरूप मान्य है। 'सिद्ध सिद्धान्त संग्रह' में 'अव्यक्त परम तत्त्व' के द्वारा परम तत्त्व या ब्रह्म के अव्यक्त रूप का प्रतिपादन किया गया है।[1] अव्यक्त ब्रह्म को ही नाथ-सम्प्रदाय की भाषा रचनाओं में 'अविगत' ब्रह्म कहा गया है। गोरखबानी में अविगत या अव्यक्त ब्रह्म की चर्चा कई स्थलों पर की गई है। 'सिष्या दर्शन' में अव्यक्त ब्रह्म से ही सृष्टि वर्णित है।[2] 'गोरख मत्स्येन्द्र बोध' में अव्यक्त ब्रह्म से प्राण की उत्पत्ति निर्दिष्ट है।[3] 'गोरख गणेश गोष्ठी' में 'अविगत तत्त्व से पञ्चभूत की उत्पत्ति कहते हुये अविगत हैं आवते न जावते'[4] के द्वारा उसे नित्य तत्त्व बताया गया है।

नाथ-सम्प्रदाय का अव्यक्त ब्रह्म निर्गुण निराकार है।[5] वह निरञ्जन है[6] अर्थात् अञ्जनरूप माया से वियुक्त है। परमतत्त्व निराकार है, वह रूप रेखा रहित नित्य तत्त्व है।[7] ब्रह्म निरञ्जन निराकार एवं निरालम्ब है। ब्रह्म न उदय है न अस्त न रात्रि है और न दिवस अर्थात् अपरिवर्तनीय है एवं वही अधिष्ठान तथा नाम रूपोपाधि के भेद से रहित निरञ्जन है।[8] इसी ब्रह्म तत्त्व का निषेधमुखेन न अव्यय के आधिक्य से पूर्ण हो उठा है। 'गोरखबानी' में निर्गुण निराकार एवं निरुपाधि परम तत्त्व का वर्णन

---

१ सिद्धसिद्धान्त संग्रह, १/४

२ गोरखबानी पृ १२९।

३ गोरखबानी पृ १९१।

४ गोरखबानी पृ २२१।

५. गोरखबानी पृ २७।

६ गोरखबानी पृ १७।

७. अकूर बीरज नहीं आकार।
   रूप न रेख न को ओंकार॥
   उदै न अस्त आवै नहीं जाई।
   तहा भवरी रह्या समाई॥
   —नाथ सिद्धों की बानियाँ पृ १९।

८. नाथ सिद्धों की बानियाँ पृ ६४।

९. गोरखबानी, पृ १९।

करते हुए उसे अगम, अगोचर,[2] अपार,[3] अजर,[4] अमर[5] और असम[6] निर्दिष्ट किया गया है। अन्यत्र अव्यक्त निर्गुण ब्रह्म को अकथ, अरूप, अमूर्त और अगोचर कहा गया है।[7] इस प्रकार यह प्रमाणित होता है कि नाथ-सम्प्रदाय में अव्यक्त ब्रह्म समादृत है और वही निर्गुण निराकार एवं निरुपाधि कहा गया है। नाथ-सम्प्रदाय ब्रह्म के एक-मात्र इसी स्वरूप को श्रेष्ठ मानता है।

परम तत्त्व की अभिव्यक्ति में नाथ-सम्प्रदाय उपर्युक्त पद्धति के अतिरिक्त एक अन्य पद्धति का प्रयोग भी करता है जिसके द्वारा ब्रह्म सत्ता द्वैत एवं अद्वैत साकार एवं निराकार से परे प्रतिपादित की गई है। 'अवधूत गीता' में कहा गया है कि कुछ लोग द्वैत को चाहते हैं और कुछ अद्वैत को चाहते हैं। किन्तु इन दोनों से परे द्वैताद्वैत विवर्जित तत्त्व को कोई नहीं जानता। यह सम तत्त्व कहा जाता है।[8] नाथ-सम्प्रदाय इसी द्वैताद्वैत विवर्जित सम तत्त्व का समर्थन करता है। इसी को 'गोरक्ष उपनिषद्' में ब्रह्म द्वैताद्वैत रहित अनिर्वचनीय सदानन्द स्वरूप प्रतिपादित किया गया है।[9] इसी उपनिषद् में कहा गया है कि यदि निराकार को परमतत्त्व कहते हैं तो उसे इच्छा-प्रेरित आकार युक्त अगम का कारण कैसे कह सकते हैं और साकार को कर्ता कहते हैं तो यह ब्रह्म की सीमा निर्धारित करना है। इन विरुद्ध धर्मों से बचने के लिए ही परम तत्त्व का निराकार-साकार अथवा द्वैताद्वैत विलक्षण रूप निर्धारित किया गया है। इसी पद्धति पर 'गोरखबानी' में भी परमतत्त्व का प्रतिपादन करते हुए उसे न तो शून्य ही कहा गया है और न बस्ती ही निर्दिष्ट किया गया है।[11] वस्तुतः यह मान्यता

---

१ गोरखबानी पृ ४६।
२ गोरखबानी पृ ४६।
३ गोरखबानी पृ ६४।
४ गोरखबानी पृ २२८।
५ गोरखबानी पृ २२८।
६ गोरखबानी पृ १२।
७ नाथसिद्धों की बानियाँ पृ ४५।
८ अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
समं तत्त्वं न विन्दन्ति द्वैताद्वैतविवर्जितम्॥
—अवधूत गीता १।३६
९ गोरक्षोपनिषद् पृ १।
१० गोरक्ष उपनिषद् पृ १।
११ बसती न सुन्य सुन्य न बसती अगम अगोचर ऐसा।
गगन सिषर महिं बालक बोलै ताका नांव धरहुगे कैसा॥
—गोरखबानी पृ १

विनिर्मुक्त ब्रह्म का प्रतिपादन है। इसी पद्धति पर 'गोरखबानी' में ब्रह्म को न सूक्ष्म न स्थूल एवं निराकार आकार विवर्जित[१] निर्दिष्ट किया गया है।

नाथ-सम्प्रदाय में नाद-ब्रह्म या शब्द-ब्रह्म का बड़ा महत्व है। शब्द-ब्रह्म का वर्णन नाथ-सम्प्रदाय के प्रायः सब ग्रन्थों में किया गया है। 'हठयोग प्रदीपिका' में 'न नाद सदृशो लय'[३] के द्वारा अनाहत नाद या शब्द-ब्रह्म की श्रेष्ठता ही प्रतिपादित की गई है। गोरखनाथ ने 'योग मार्तण्ड' में नाद ब्रह्म का वर्णन किया है।[४] नाद ब्रह्म भी अव्यक्त ब्रह्म है। 'गोरखबानी' में 'सुनि गगन बाजै'[५] के द्वारा नाद ब्रह्म का अव्यक्त एवं निराकार रूप ही वर्णित है। 'गोरखबानी' में ही अन्यत्र 'गगनि सिषर महि सबद प्रकास्या'[६] 'सारमसारं गहर गंभीर गगन उछलिया नाद'[७] 'गगन मंडल में अनहद बाजै'[८] 'एक सबदहि ताला सबदहि कूंची सबदहि सबद भया उजियाला'[९] के वर्णन द्वारा नाद या शब्द ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है। गोरखनाथ के मत से ब्रह्म के प्रथम निर्गत प्रणव की उपासना से पर ब्रह्म का साक्षात्कार भी हो सकता है। यह शब्द ब्रह्म ही मूलमंत्र है, यही शब्द ब्रह्म समस्त संसार में व्याप्त है नाद ब्रह्म ही सकल निधान है तथा नाद ब्रह्म से ही परमनिर्वाण या मोक्ष प्राप्त होता है।[१०] अन्यत्र ओंकार रूपी शब्द ब्रह्म के ज्ञाता सिद्ध योगी को पारब्रह्म परमतत्व ब्रह्मवत् प्रतिपादित किया गया है।[११] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि नाथ-सम्प्रदाय में शब्द-ब्रह्म की भावना समावृत है।

नाथ-सम्प्रदाय में ब्रह्म भावना 'शून्य' के द्वारा भी व्यक्त हुई है। 'शून्य' ब्रह्म का प्रतिपादन गोरखनाथ एवं अन्य नाथ योगियों की रचनाओं में पुनः-पुनः किया गया है।

---

१ गोरखबानी पृ ११९ एवं १२९।
२ गोरखबानी पृ १२४।
३ हठयोग प्रदीपिका १।४५
४ योग मार्तण्ड श्लोक १ ०
५ गोरखबानी पृ १ ९
६ गोरखबानी पृ २
७ गोरखबानी पृ ५
८ गोरखबानी पृ १२
९ गोरखबानी पृ २ ७
१० ओंकार माहैं बाबू मूलमंत्र धारा ओंकार व्यापीले सकल संसारा।
    नाद ही माहैं बाबू सब कछू निधाना नाद ही थें पाइये परम निधाना ॥
                                        —गोरखबानी पृ ९८ ९९
११ ओंकार का जाणै भेद। सो ही सिध अलख अभेद ॥
                                        —नाथ सिद्धों की बानियाँ पृ ५१

शून्य का महत्व प्रतिपादित करते हुए गोरखनाथ ने उसे माता-पिता (जीव का मूल) कहा है एवं शून्य निरंजन के परिचय से योगी का चित्त-स्थैर्य बताया है।[1] अन्यत्र उन्होंने उत्तराखण्ड रूपी ब्रह्मरन्ध्र में शून्यफल या ब्रह्मानुभूति का वर्णन किया है।[2] इसके अतिरिक्त 'भवि सुंनि मे बैठा जाई'[3] 'अतीत सुंनि मे रहा समाई। परम तत्व मैं कछू समझाई'[4] इत्यादि के द्वारा शून्य ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है। सिद्ध जालन्धर नाथ ने भी शून्य को परम ज्योति प्रकाश रूपी परमपद कहा है।[5] अस्तु नाथ-सम्प्रदाय में ब्रह्म भावना 'शून्य' के द्वारा भी वर्णित है। यह 'शून्य' योगियों के समाधि-पद्य पिंडस्थ ब्रह्मरन्ध्र और सहस्रदल कमल का भाव भी व्यक्त करता है। इसीलिए 'शून्य' ब्रह्म है।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि नाथ-सम्प्रदाय में अव्यक्त ब्रह्म ही उपास्य है। अव्यक्त ब्रह्म भावना को ही निर्गुण निराकार शब्द-ब्रह्म एवं शून्य ब्रह्म के रूप में व्यक्त किया गया है। नाथ योगियों का द्वैताद्वैत विलक्षण अनिर्वचनीय सदानन्द ब्रह्म भी अव्यक्त-अचिन्त्य परम तत्व ही है।

माया (शक्ति)

नाथ-सम्प्रदाय में माया-तत्व का 'शक्ति' के रूप में वर्णन किया गया है। नाथ मत के अनुसार परम शिव को जब सृष्टि करने की इच्छा होती है तो इच्छायुक्त होने के कारण उन्हें सगुण शिव कहा जाता है। परमशिव की यह सृष्टि करने की इच्छा या 'सिसृक्षा' ही शक्ति है।[6] यह शक्ति पाँच अवस्थाओं से गुजरती हुई स्फुरित होती है। ये अवस्थाएँ

---

१ सुंनि ज माई सुंनि ज बाप। सुंनि निरंजन आपै आप॥
सुंनि कै परचै भया सथीर। निहचल जोगी गहर गंभीर॥
—गोरखबानी पृ ७३

२. उतराखंड जाइबा सुंनि फल खाइबा ब्रह्म अगिनि पहिरबा चीर।
नीझर झरणै अमृत पीया यूं मन हूवा थीर॥
—गोरखबानी पृ २४

३ गोरखबानी पृ २८।

४ गोरखबानी पृ १९१।

५. सुंनि मंडल में मन का बासा। तहा परम जोति प्रकासा॥
आपै पूछै आपै कहै। सतगुर मिलै तो परमपद लहै॥
—नाथ सिद्धों की बानियाँ पृ ५

६ नाथ-सम्प्रदाय पृ १३।

क्रमशः निवा परा अपरा सूक्ष्मा और कुण्डली कही जाती हैं।[1] यह शक्ति ही कुण्डली या कुण्डलिनी के रूप में समस्त विश्व में व्याप्त है। समस्त विश्व में परिव्याप्त कुण्डलिनी शक्ति सृष्टिचक्र को अग्रसर करने के लिए क्रमशः स्थूलता की ओर अग्रसर होती है। जगत् इसी शक्ति का परिणाम है और यही शक्ति जगत् रूप में परिणत होती है।[2] इसी तथ्य को साधनापरक भाषा में व्यक्त करते हुए सिद्ध योगिया ने कहा है कि कुण्डलिनी शक्ति त्रिभुवन जननी है। यह जगत् शक्ति रूप है, एवं त्रिगुण रूप कुण्डलिनी शक्ति ने ही ब्रह्मा विष्णु एवं रुद्र को उत्पन्न किया है।[3]

इस प्रकार नाथ-सम्प्रदाय की शक्ति भी गीता की माया एव साख्य की प्रकृति की भाँति त्रिगुणात्मक है। गोरखनाथ ने भी कहा है कि उत्पत्ति करने वाली माया ही है तथा उसी ने सत रज एव तम के प्रतीक ब्रह्मा विष्णु एवं महेश को उत्पन्न किया है।[4] त्रिगुण से ही जीव बन्धन में पड़ता है और त्रिगुणात्मक माया का यथार्थ स्वरूप समझ लेने पर बन्धन मुक्त हो जाता है। इसीलिए नाथ-सम्प्रदाय में 'त्रिगुणी' माया का यथार्थ स्वरूप समझना काम्य है।[5] माया या शक्ति का यथार्थ ज्ञान हो जाने पर जीव बन्धन मुक्त हो जाता है। इस प्रकार जीव का बन्धन करने वाला तत्व ही ज्ञान से उसके मोक्ष का साधन बन जाता है। इस तथ्य को ध्यान में रखकर ही 'योग मार्तण्ड' में गोरखनाथ ने कहा है कि कुण्डलिनी शक्ति रूप माया मूढ के बन्धन का कारण है किन्तु योगियों

---

१ निवा पराऽपरा सूक्ष्मा कुण्डली तासु पचधा।
शक्ति चक्र क्रमेणैव यात पिण्ड पद शिवे ॥
—सिद्ध सिद्धान्त संग्रह, १। १२।

२ नाथ-सम्प्रदाय पृ १४

३ शक्ति कुडलनी त्रिभवन जननी।
तास किरनि हम पाया।
याहि कुवारी जगत की नारी।
ब्रह्मा बिस्न रुद्र जिन जाया ॥
—नाथ सिद्धों की बानियाँ पृ ६९

४ आद नहीं तहआ बावन नाही का मा बाजे मध्यम रचीया।
तिहा आप उपावनहारी की।
ब्रह्मा बिष्न मैं आदि महेश्वर, ये तीन्यू मैं जाया की ॥
—गोरखबानी पृ ९२ ९३

५ अवधू गोरषि त्रिगुणी माया सतगुरु होइ लषावै।
—गोरखबानी पृ १३७

को मोक्षप्रदायिका है।[1] सांख्य के प्रसंग में हम लक्ष्य कर चुके हैं कि वहाँ भी 'प्रकृति' पुरुष के बन्धन और मोक्ष का कार्य सम्पादन करती है किन्तु सांख्य और नाथ-सम्प्रदाय की इस धारणा में अन्तर यह है कि सांख्य में प्रकृति-पुरुष विवेक से मोक्ष होता है, जब कि नाथ-सम्प्रदाय में परम शिव के साथ शक्ति का अभेद ज्ञान परमार्थ है।[2] वस्तुतः सांख्य और नाथ-सम्प्रदाय की 'प्रकृति' और 'शक्ति' धारणा मूलतः भिन्न है। सांख्य की प्रकृति जड़ है नाथ-सम्प्रदाय की शक्ति शिव रूप चेतन ब्रह्म का धर्म होने के कारण स्वयं चेतन है। यही भेद वेदान्त की 'माया' और नाथमत की 'शक्ति' में है। वेदान्त की 'माया' जड़ स्वभाववाली है तथा नाथमत की 'शक्ति' चेतन है। नाथ सम्प्रदाय में धर्मी एवं धर्म के अभेद सिद्धान्तानुसार चेतन ब्रह्म की शक्ति भी चेतन मानी गई है।

नाथ-सम्प्रदाय की साधनापरक रचनाओं में शक्तिरूप माया का प्रतिपादन 'बेली' अथवा बेल के रूप में किया गया है। 'गोरखबानी' में माया रूप बेल का वर्णन करते हुए कहा गया है कि माया रूप बेल चतुर्दिक फैल गई है। वही फूल फल गई है एवं इसी में मुक्तिरूप मुक्ताफल लगते हैं। इसी बेल के प्रकाश अथवा विस्तार से सृष्टि हुई। इस बेल का मूल नहीं है, तथापि यह आकाश तक चढ़ गई है। ऊपर के बोल्यान ब्रह्मरन्ध्र तक उसका विस्तार हो गया है, अर्थात् मायारूपी बेल के कारण ब्रह्मानुभूति पर आवरण पड़ गया है।[4] माया या शक्ति के इस वर्णन में भी 'मूल न की चढ़ी आकासं' एवं 'उरध गोट कियौ बिस्तार' के द्वारा शक्ति-तत्त्व का बन्धन कर्तृत्व और 'बेलि अठै मोत्याहल' के द्वारा उसका मोक्षकर्तृत्व प्रतिपादित किया गया है।

उपर्युक्त पंक्तियों में नाथ-सम्प्रदाय की शक्ति भावना संक्षेप में प्रतिपादित की गई। नाथ-सम्प्रदाय की 'शक्ति' की उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त 'गोरखबानी' में मायारूप शक्ति की कुछ अन्य विशेषताएँ भी उल्लिखित हैं। उदाहरणार्थ—'माया माता—

---

१ कन्दोर्ध्वे कुण्डली शक्तिरष्टधा कुण्डली कृता।
बन्धनाय च मूढानां योगिनां मोक्षदायिका ॥
—गोक्ष मार्तण्ड श्लोक ४५

२ नाथ सम्प्रदाय पृ ११२।

३ नाथ-सम्प्रदाय पृ ११२।

४ अबधू मढ़ठ पळत मझार, बेलड़ी माख्यी बिस्तार।
बेली फूल बेली फल बेलि अठै मोत्याहल ॥
सिष्टि उतपनी बेली प्रकास मूल न की चढ़ी आकास।
उरध गोट कियौ बिस्तार, बाबनै जोधी करौ बिचार ॥
—गोरखबानी पृ ११८ ११९

रूप में अनेक प्रकार दृष्टिगत होती है।[1] 'वह सर्पिणी है और उसने त्रिभुवन को डस रखा है। वह स्त्रीरूप है और इस रूप में उसने देवताओं को छला है।[2] इन उद्गारों का अभिप्राय यह है कि शक्ति या माया अनेक रूप सम्पन्न है। ज्ञानी इसके सब ही रूपों को समझ कर उससे विमुक्त हो जाता है। इस प्रकार शक्तिरूप माया की स्थूल क्रियाओं का नाथ-सम्प्रदाय में प्रत्याख्यान किया गया है।

जीव-तत्त्व

नाथ-सम्प्रदाय में उपनिषदों एवं गीता की भाँति एक आत्म-तत्त्व ही परमार्थतः सत्य माना गया है। इसे नाथ या शिव कहते हैं। यही शिव तत्त्व माया अविद्या अथवा अज्ञान से आच्छादित होने पर 'जीव' रूप में व्यक्त होता है। नाथ-सम्प्रदाय में कहा गया है कि माया के अविद्या कला राग काल और नियति नामक कंचुकों से बद्ध शिव ही जीव रूप में प्रकट है।[4] इससे स्पष्ट है कि माया के सम्पर्क से शिवरूप आत्मतत्त्व ही बन्धन में जीवात्मा कहा जाता है। यह माया तीन प्रकार के मलों से शिव को आच्छादित करती है तब शिव जीव रूप में व्यक्त होते हैं। ये तीन मल हैं —

१ आणव अर्थात् अपने को अणुमात्र समझना।
२ मायिक अर्थात् जगत् के तत्त्वत एवं अद्वैत पदार्थों में भेदबुद्धि।
३ कर्म अर्थात् माया बन्धनों में कृत कर्मों का संस्कार।[5]

इन तीन मलों से आच्छन्न शिव ही जीव है। इसीलिए शैवमत में कहा गया है कि 'शरीर कंचुकितः शिवो जीवो निष्कंचुकः परमशिवः' अर्थात् तीन मलों के परिणाम शरीर द्वारा आच्छादित शिव ही जीव है और अनाच्छादित जीव ही शिव है।[6] दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि शरीरी शिव जीव है और अशरीरी शिव (आत्मा) ही परम-शिव या ब्रह्म है। इसी को ध्यान में रख कर गोरखनाथ ने कहा है कि 'आत्मा परमात्मा भवति'[7] 'यहु नाथ जीव ब्रह्म एकै' अर्थात् आत्मा (जीवात्मा) ही

---

१ गोरखबानी पृ ११७।
२ गोरखबानी पृ ११९।
३ गोरखबानी पृ ११९।
४ नाथ-सम्प्रदाय पृ ६७।
५ नाथ-सम्प्रदाय पृ ६८।
६ नाथ-सम्प्रदाय पृ ६८।
७ गोरखबानी पृ २१२।
८ गोरखबानी पृ १८२।

ज्ञानावस्था में परमात्मा या ब्रह्म है और इस प्रकार तत्त्वतः जीव और ब्रह्म में अभेद है।

जीवात्मा का बन्धन माया के कारण है। मायाकृत पञ्चभूतात्मक शरीर-बन्धन में पड़कर शुद्ध या बुद्ध आत्मा जीव की उपाधि धारण करता है।[1] इस अज्ञान रूप बन्धन में पड़कर वह आवागमन के चक्र में पड़ता है और ज्ञान उत्पन्न होने पर माया के मल-विक्षेप से निस्संग होकर निज नित्य मुक्त स्वरूप प्राप्त करता है। यही जीवात्मा का नाथ स्वरूप में अवस्थान है।[2] इस अवस्था में योगेश्वर परमशिव और जीव तत्त्वतः एक ही होते हैं और जिसे 'गोरखबानी' में जीवात्मा की परम शून्य भाव में स्थिति कहा गया है[3] वह जीव का निज स्वरूप में अवस्थान ही है। यही जीव का मोक्ष है।

जगत्

नाथ-सम्प्रदाय में जगत् प्रपंच कार्य का मूल कारण 'शक्ति' निर्दिष्ट है। परमशिव से स्वयं आविर्भूत होकर 'शक्ति' स्वयमेव सृष्टि विधान करती है।[4] यद्यपि नाथ-सम्प्रदाय में 'शक्ति' परमशिव की 'सिसृक्षा' या सृष्टि की इच्छा है तथापि चिन्मात्र परब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण वह चिद्रूपा भी है। शक्ति ने ही सृष्टि विधान के द्वारा जगत् को ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय रूप में कल्पित किया है। इस प्रकार शक्ति ज्ञान-ज्ञेय ज्ञातृ रूप त्रिपुटीकृत जगत् की पुरोवर्तिनी आविर्भूता तत्त्व है।[5] शक्ति निश्चय ही परमशिव की 'सिसृक्षा' है किन्तु चिद्रूप या चैतन्य होने के कारण जब शक्ति जगत् रूप में व्यक्त होती है तो उस अवस्था में परमशिव तत्त्व की उसे आकांक्षा नहीं होती।[6] 'कौलज्ञान निर्णय' में इसी तथ्य को ध्यान में रखकर मत्स्येन्द्रनाथ ने कहा है कि शिव की इच्छा (सिसृक्षा) से सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि होती है और उसी में सब कुछ लीन हो जाता है।[7] इसका अभिप्राय यही है कि शक्ति ही जगत् का मूल कारण है। यही शिव की 'सिसृक्षा' है। नाथ-सम्प्रदाय की

---

१ गोरखबानी पृ० १४२।

२ नाथ-सम्प्रदाय पृ० ११६।

३ जोगेस्वर जीव एक भवति। परम शून्य माहे स्थिति॥

—गोरखबानी पृ० २३५

४ नाथ-सम्प्रदाय पृ० ६५।

५ नाथ-सम्प्रदाय पृ० ६५।

६ नाथ-सम्प्रदाय पृ० ६६।

७ नाथ-सम्प्रदाय पृ० ६६।

'योगबीज' में जीवन्मुक्त के लक्षणों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि सर्वकर्ता स्वतन्त्र विश्व रूपवान् तथा जीवन्मुक्त योगी भुवन में (इच्छानुसार) भ्रमण करता है।[1] अजर अमर सिद्ध योगी ही जीवन्मुक्त है।[2] शरीर तथा इन्द्रियाँ चिन्मय होकर जब अलक्ष्यता को प्राप्त करते हैं तब योगी मुक्त कहा जाता है।[3] इन लक्षणों से यही प्रमाणित होता है कि नाथ-सम्प्रदाय में जीवन्मुक्ति वस्तुतः योगी की नाथतत्त्व या ब्रह्मनिष्ठ अवस्था है। हम प्रारम्भ में ही कह चुके हैं कि नाथ-सम्प्रदाय में जीवन्मुक्ति नाथस्वरूप में अवस्थित होना है। योगी उपर्युक्त वर्णित अनन्यता को नाथस्वरूप में अवस्थित होकर ही प्राप्त करता है। यही उसकी कैवल्यावस्था अथवा जीवन्मुक्ति है।

मन

नाथ-सम्प्रदाय में मन का निरूपण गोरखनाथ आदि नाथ-योगियों की साधनापरक रचनाओं में किया गया है। नाथ-सम्प्रदाय के अनुसार ब्रह्माण्ड में जो निरंजन है, पिंड में वही मन है अर्थात् मननशील मन ही अमनी या 'उन्मनि' अवस्था प्राप्त करके दशम द्वार ब्रह्मरन्ध्र में स्थित 'उनमन' रूप निरंजन ब्रह्म को प्राप्त करता है।[4] इसी भाव को प्रकट करते हुए गोरखनाथ ने कहा है कि मन आदि-अन्त है मन के भीतर ही सार है मन को ब्रह्मोन्मुख करके विषय-विकार से निस्तार मिलता है।[5] अन्यत्र उन्होंने मन को शिव शक्ति एवं जीव कहा है और प्रतिपादित किया है कि मन की उन्मनि अवस्था प्राप्त करने वाला साधक सर्वज्ञ हो जाता है।[6] इसका अभिप्राय यह है कि

---

१ सर्वज्ञः सर्वकर्ता च स्वतन्त्रो विश्वरूपवान् ।
जीवन्मुक्तो भवेद् योगी स्वेच्छया भुवने भुवने भ्रमेत ॥
—योगबीज श्लोक ११९

२ योगबीज श्लोक १८३।

३ चिन्मयानि शरीराणि इन्द्रियाणि तथैव च।
अलक्ष्यता यदा यान्ति तदा मुक्तः स उच्यते ॥
—योग बीज श्लोक १८७

४ दसवैं द्वार निरंजन उनमन बासा सबदै उलटि समाना।
भनत गोरखनाथ मछीन्द्र का पूता अविचल थीर रहाना ॥
—गोरखबानी पृ ९८

५ मन आदि मन अंत मन मधि सार।
मन ही तैं छूटै सब विषै विकार ॥
—गोरखबानी पृ ९९

६ यहु मन सकती यहु मन सीव। यहु मन पांच तत का जीव।
यहु मन लै जै उनमन रहै। तौ तीन लोक की बाता कहै ॥
—गोरखबानी पृ १८

मन का अधिष्ठान परब्रह्म शिवतत्त्व है। माया या शक्ति के संयोग से ब्रह्म के रूप में अभिव्यक्त होता है और मन ही से पञ्चभूतात्मक शरीर की सृष्टि होती है। इस मन को 'उन्मन' या अमन करके योगी सर्वज्ञ हो जाता है। अन्यत्र गोरखनाथ ने कहा है कि परमार्थ तो मन के भीतर ही है मन को उलट कर शिव में लय करने से वह प्रकट होता है। इसीलिए नाथ-सम्प्रदाय की रचनाओं में प्रायः मन को अन्तर्मुखी करने पर जोर दिया गया है[2] तथा अन्तर्मुखी मन की उन्मनी अवस्था द्वारा सारभूत चैतन्य तत्त्व की अनुभूति वर्णित है।[3]

मन के इस तात्त्विक वर्णन के अतिरिक्त नाथ-सम्प्रदाय के साधकों ने मन का परमार्थ-बाधक स्वरूप भी प्रतिपादित किया है। मन कभी निरालम्ब नहीं रहता। इसकी चंचलवृत्ति और अतीव-चपलता इसे स्थिर नहीं होने देती। वह कभी आशा का संकल्प करता है, कभी विराग का विकल्प करता है कभी कामिनी की गोद में और कभी गुरु के आश्रय में रहता है।[4] समुद्र की अनन्तगामी लहरों से पार पाना संभव है, किन्तु मन की अनन्त चपलता रूपी लहरों से पार नहीं मिलता।[5] मन हाथी के समान मदमस्त है।[6] यह सब का बंधन है।[7] देव और दानव भी इसके प्रभाव से नहीं बचे हैं। अस्तु परमार्थ में बाधक संकल्प विकल्पयुक्त चंचल मन जीव का द्रोही है।[8] इसे गुरु से प्राप्त ज्ञानरूपी बाण से मारना चाहिए। तभी मन 'उन्मन' होकर चैतन्य लाभ करेगा।

---

१ मनवा जो मन जात है जाही तैं सब जाणि।
मन मकड़ी के ताग ज्यूं उलटि अपूठो आणि॥
—गोरखबानी पृ० ७४

२. गोरखबानी, पृ० १४१

३ गोरखबानी पृ ११

४ कै मन रहै आसा पास। कै मन रहै परम उदास।
कै मन रहै गुरु के ओलै। कै मन रहै कामिनि पोलै॥
—गोरखबानी पृ २८

५. समंदा की लहरयां पार जु पाईला।
मनवा की लहरयां पार न जाई रे लो॥
—नाथ सिद्धों की बानियां पृ १

६ गोरखबानी पृ १८६।

७ नाथ सिद्धों की बानियां पृ १८।

८ गोरखबानी पृ ७१।

९. गोरखबानी पृ ७१।

१ गोरखबानी पृ ७१।

साधनापरक रचनाओं में भी 'शक्ति कुण्डलिनी त्रिभुवन जननी'[1] के द्वारा जगत् कार्य का कारण शक्ति को ही निर्दिष्ट किया गया है।

नाथ-सम्प्रदाय और शैवमत में शक्ति से आविर्भूत जगत् की अभिव्यक्ति में ३६ तत्त्वों की चर्चा की जाती है।[2] 'परशिव' की 'सिसृक्षा' रूप शक्ति द्वारा जगत् की अभिव्यक्ति होने के समय शिव दो रूप में प्रकट होते हैं—'सदाशिव' और 'ईश्वर'।[3] जगत् यह रूप में समझने वाला तत्त्व सदाशिव की शक्ति को 'शुद्ध विद्या' कहते हैं[4] और ईश्वर की वृत्ति का नाम 'माया' है।[5] शुद्ध विद्या को आच्छादन करने वाली 'अविद्या' है। यह सातवाँ तत्त्व है।[6] माया के बन्धन से शिव की क्रियाशक्ति संकुचित होकर 'कला' कहलाती है।[7] फिर उनकी नित्यतृप्तता संकुचित होकर 'राग' तत्त्व कही जाती है।[8] जब शिव का नित्यत्व संकुचित होकर छोटी सीमा में बँध जाता है, तो इसको 'काल' कहते हैं।[9] उनका सर्वव्यापकत्व भी जब संकुचित होकर नियत देश में संकीर्ण हो जाता है तो इसे नियति तत्त्व कहते हैं। इस प्रकार माया के उपरान्त अविद्या, कला, राग, काल एवं नियति तत्त्वों या कंचुक से बद्ध होकर शिव ही जीव रूप में प्रकट होते हैं। यह 'जीव' ही बारहवाँ तत्त्व है। यही सांख्य का पुरुष है। इसके उपरान्त तत्त्वों का क्रम वही है जो सांख्य में मान्य है।[10] तब शैवमत और नाथ-सम्प्रदाय सांख्य के २४ तत्त्वों के अतिरिक्त उपर्युक्त बारह तत्त्वों को अधिक मानते हैं।[13] इस प्रकार नाथ-सम्प्रदाय में ३६ तत्त्वों के स्फुरण से जगत् कार्य का सामञ्जस्य किया गया है। हम यह पहले ही कह चुके हैं कि समस्त जगत् प्रपंच शिव की 'सिसृक्षा' या शक्ति से उत्पन्न होकर उसी में लय होता है।

---

१ नाथ सिद्धों की बानियाँ पृ १९।
२ नाथ-सम्प्रदाय पृ १६।
३ नाथ-सम्प्रदाय पृ १६।
४ नाथ-सम्प्रदाय १६।
५. नाथ-सम्प्रदाय १६।
६ नाथ-सम्प्रदाय पृ १७।
७ नाथ-सम्प्रदाय पृ १७।
८ नाथ-सम्प्रदाय पृ १७।
९. नाथ-सम्प्रदाय पृ १७।
१ नाथ-सम्प्रदाय पृ १७।
११ नाथ-सम्प्रदाय पृ १७।
१२ नाथ-सम्प्रदाय पृ १६।
१३ नाथ-सम्प्रदाय पृ १६।

गोरखनाथ की साधनापरक रचनाओं में जगत् के उपर्युक्त विवरण की व्याख्या उपलब्ध नहीं है किन्तु 'अविगत' या परशिव की इच्छा (सिसृक्षा) से पंचभूतात्मक जगत् कार्य का उल्लेख अवश्य हुआ है।[1] अन्यत्र गोरखनाथ ने 'पंच तत्व मैं उतपना सकल संसार'[2] द्वारा जगत् को पंचभूतात्मक निर्दिष्ट किया भी है।

जीवन्मुक्ति

नाथ-सम्प्रदाय में भी मोक्ष का स्वरूप जीवन्मुक्ति ही प्रतिपादित है। योगी जब नाथ स्वरूप में अवस्थित होता है, तब उसे जीवन्मुक्त कहते हैं।[3] नाथ स्वरूप में अवस्थित होने के लिए देहपात की आवश्यकता नहीं होती अपितु चित्त की साम्यावस्था से ही योगी जीवन्मुक्त हो जाता है।[4] अतएव नाथ सम्प्रदाय की जीवन्मुक्ति धारणा को सहजावस्था भी कहा जा सकता है क्योंकि यह साधक के चित्त की साम्यावस्था पर आधारित है।

गोरखनाथ ने 'योगबीज' में जीवन्मुक्ति की अवस्था का वर्णन करते हुए ही कहा है कि जिस साधक के जीवित रहते हुए प्राण विलीन हो जाते हैं उसका पिण्ड नहीं गिरता और चित्त दोषों से मुक्त हो जाता है।[5] यहाँ जीवित अवस्था में प्राण के विलीन होने का प्रसंग लय योग सम्बन्धित है। हठयोग प्रदीपिका में भी प्राण के लय द्वारा जीवन्मुक्ति का वर्णन उपलब्ध है।[6] अतएव नाथ-सम्प्रदाय में लय योग साधना द्वारा ब्रह्मनिष्ठ पुरुष की जीवन्मुक्ति का प्रतिपादन किया गया है। प्राण के साथ मन का लय स्वयंसिद्ध है। इसके लय से साधक का चित्त निर्विषय होकर दोषमुक्त हो जाता है। यहाँ दोषमुक्त निर्विषय चित्त ही जीवन्मुक्ति का प्रतिपाद्य है।

---

१ गोरखबानी पृ २११।

२ गोरखबानी पृ १९९।

३ नाथ-सम्प्रदाय पृ १६६।

४ चित्ताचित्ते समीभूते जीवन्मुक्तिरिहोच्यते।
अत्र स्वभाव सद्भावो मायिनां नैव लभ्यते॥
—अमरौघ प्रबोध श्लोक ७

५. यस्य प्राणा विलीयन्ते साधके सति जीविते।
पिण्डो न पतितस्तस्य चित्त दोषै प्रमुच्यते॥
—योगबीज श्लोक ८४।

६ हठयोग प्रदीपिका ४। १६ की टीका।

योगबीज' में जीवन्मुक्त के लक्षणों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि सर्वकर्ता स्वतन्त्र तथा स्वप्रकाश तथा जीवन्मुक्त योगी भुवन में (इच्छानुसार) भ्रमण करता है। अजर अमर सिद्ध योगी ही जीवन्मुक्त है।[2] शरीर तथा इन्द्रियाँ चिन्मय होकर जब अनन्यता को प्राप्त करते हैं तब योगी मुक्त कहा जाता है।[3] इन लक्षणों से यही प्रमाणित होता है कि नाथ-सम्प्रदाय में जीवन्मुक्ति वस्तुतः योगी की नादतत्त्व या ब्रह्मनिष्ठ अवस्था है। हम प्रारम्भ में ही कह चुके हैं कि नाथ-सम्प्रदाय में जीवन्मुक्ति नादस्वरूप में अवस्थित होना है। योगी उपर्युक्त वर्णित अनन्यता को नादस्वरूप में अवस्थित होकर ही प्राप्त करता है। यही उसकी कैवल्यावस्था अथवा जीवन्मुक्ति है।

मन

नाथ-सम्प्रदाय में मन का निरूपण गोरखनाथ आदि नाथ-योगियों की साधनापरक रचनाओं में किया गया है। नाथ-सम्प्रदाय के अनुसार ब्रह्माण्ड में जो निरंजन है, पिंड में वही मन है अर्थात् मननशील मन ही उन्मनी या 'उन्मनि' अवस्था प्राप्त करके दशम द्वार ब्रह्मरन्ध्र में स्थित 'उन्मन' रूप निरंजन ब्रह्म को प्राप्त करता है।[4] इसी भाव को प्रकट करते हुए गोरखनाथ ने कहा है कि मन आदि-अन्त है, मन के भीतर ही सार है, मन को ब्रह्मोन्मुख करके विषय-विकार से निस्तार मिलता है।[5] अन्यत्र उन्होंने मन को शिव शक्ति एवं जीव कहा है और प्रतिपादित किया है कि मन की उन्मनि अवस्था प्राप्त करने वाला साधक सर्वज्ञ हो जाता है।[6] इसका अभिप्राय यह है कि

---

१ सर्वज्ञः सर्वकर्ता च स्वतन्त्रो निजस्वान्वयान् ।
जीवन्मुक्तो भवेद् योगी स्वेच्छया भुवने भुवने भ्रमेत् ॥
—योगबीज श्लोक १११

२ योगबीज श्लोक १८३ ।

३ चिन्मयानि शरीराणि इन्द्रियाणि तथैव च ।
अनन्यता यदा यान्ति तदा मुक्तः स उच्यते ॥
—योग बीज श्लोक १८७

४ दसवें द्वार निरंजन उनमन बासा सबै उलटि समाना ।
भणत गोरखनाथ मछीन्द्र ना पूता अविचल थीर रहाना ॥
—गोरखबानी पृ ९८

५ मन आदि मन अंत मन मधे सार ।
मन ही तैं छूटै सब विषै विकार ॥
—गोरखबानी पृ ९९

६ यहु मन सकती यहु मन सीव । यहु मन पांच तत का जीव ।
यहु मन लै जौ उनमन रहै । तौ तीन लोक की बाता कहै ॥
—गोरखबानी पृ १७

मन का अधिष्ठान परब्रह्म शिवतत्त्व है। माया या शक्ति के संयोग से ब्रह्म के रूप में अभिव्यक्त होता है और मन ही से पंचभूतात्मक शरीर की सृष्टि होती है। इस मन को 'उन्मन' या अमन करके योगी सर्वज्ञ हो जाता है। अन्यत्र गोरखनाथ ने कहा है कि परमार्थ तो मन के भीतर ही है मन को उलट कर शिव मे लय करने से वह प्रकट होता है।[1] इसीलिए नाथ-सम्प्रदाय की रचनाओं मे प्राय मन को अन्तर्मुखी करने पर जोर दिया गया है[2] तथा अन्तर्मुखी मन की उन्मनी अवस्था द्वारा सारभूत चैतन्य तत्त्व की अनुभूति वर्णित है।[3]

मन के इस तात्त्विक वर्णन के अतिरिक्त नाथ-सम्प्रदाय के साधको ने मन का परमार्थ-बाधक स्वरूप भी प्रतिपादित किया है। मन कभी निरालम्ब नहीं रहता। इसकी चंचलवृत्ति और अनेक-कल्पना इसे स्थिर नहीं होने देती। वह कभी माया का स्मरण करता है, कभी विराग का विकल्प करता है, कभी कामिनी की गोद मे और कभी गुरु के आश्रय मे रहता है।[4] समुद्र की अनन्तवर्मी लहरों से पार पाना संभव है, किन्तु मन की अनन्त कल्पना रूपी लहरों से पार नही मिलता।[5] मन हाथी के समान मदमस्त है।[6] वह सब का बंधन है।[7] देव और दानव भी इसके प्रभाव से नही बचे है।[8] अस्तु परमार्थ मे बाधक संकल्प विकल्पयुक्त चंचल मन जीव का द्रोही है।[9] इसे गुरु से प्राप्त ज्ञानरूपी बाण से मारना चाहिए। तभी मन 'उन्मन' होकर चैतन्य लाभ करेगा।

---

१ अवधू यो मन जात है याही तै सब जाणि।
मन मकड़ी के ताग ज्यूं उलटि अपूठो आणि॥
—गोरखबानी पृ ७४

२. गोरखबानी, पृ० १८५

३ गोरखबानी पृ ११

४ कै मन रहै आसा पास। कै मन रहै परम उदास।
कै मन रहै गुरु के ओलै। कै मन रहै कामिनि खोलै॥
—गोरखबानी पृ ४८

५ समंदा की लहरयो पार क्यु पाईला।
मनसा की लहरया पार न जाई रे लो॥
—नाथ सिद्धों की बानियाँ पृ १०

६ गोरखबानी पृ १८६।

७ नाथ सिद्धों की बानियाँ पृ १८।

८. गोरखबानी पृ ७१।

९ गोरखबानी पृ ७१।

१ गोरखबानी पृ ७१।

काल

नाथ-सम्प्रदाय में काल-तत्त्व का वर्णन किया गया है। नाथ सिद्धों की बाणी रचनाओं में काल के स्वरूप का प्रतिपादन प्राप्त होता है। नाथ सम्प्रदाय में काल वर्णन बहुत विस्तार से नहीं किया गया है। 'गोरखबानी' एवं नाथ सिद्धों की बानियों में काल की संक्षिप्त चर्चा ही की गयी है। मृत्यु भावना व्यक्त करने के लिए इन ग्रन्थों में काल के साथ 'यम' का प्रयोग भी किया गया है। काल का सर्वव्यापकत्व प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि जरा मरण रूप काल सर्वव्यापी है।[२] काल के व्यापक स्वभाव का वर्णन करते हुये गोरखनाथ ने काल के मुँह से कहलाया है कि मैं खड़े बैठे, सोते और जागते सब व्यक्तियों का नाश करता हूँ। मैंने तीनों लोक में योनिरूपी जाल बिछा रखा है जिससे जीव का बचना संभव नहीं है।[३] इस प्रकार नाथ-सम्प्रदाय में काल को त्रिलोकव्यापी कहा गया है और उसकी दुर्धम निःसंहार शक्ति का प्रत्याख्यान धर्मभय बनाया गया है। नाथ-सम्प्रदाय में काल से परित्राण का उपाय पवन मन का निश्चित या स्थिर करना कहा गया है।[४] इससे जरामरण काल-वर्जित निर्वाण रूप परमपद प्राप्त होता है।

कर्म

नाथ-सम्प्रदाय में कर्म को जीवात्मा का बन्धन माना गया है। गोरखनाथ ने कहा है कि कर्म बन्धन ही जीव का बन्धन है।[५] नाथ सिद्धों की बानियों में 'संसार कर्म बन्धन'[६] के द्वारा समस्त सृष्टि को कर्माधीन बताया गया है। सामान्य जीव का तो

---

१ गोरखबानी पृ १८१ नाथ सिद्धों की बानियाँ पृ ७
२ जुरा मरन काल सरब व्यापी।
—नाथ सिद्धों की बानियाँ पृ ८
३ ऊभा मारू बैठा मारू मारू जागत सूता।
तीन लोक जम जाल पसार्या कहाँ जाइगी पूता ॥
—गोरखबानी पृ १४
४ चौथे चंचल निहचल करी। काल बिकार दूर पर हरी।
कथ गोरा का मर्दी मान। सतगुर कथिया पद निरवान ॥
—गोरखबानी पृ १८६
५. बन्ध्या सोई जु करमहि बन्ध।
—गोरखबानी पृ २२९
६ नाथ सिद्धों की बानियाँ पृ १ ९

कहना ही क्या ब्रह्मा विष्णु एवं महेश भी कर्म से बँधे हैं। राम पावक चन्द्र सूर्य सब कर्माधीन परिभाषित हैं।[२] वस्तुतः कर्म की रेखा टल नहीं सकती। पाप-पुण्य अथवा अशुभ और शुभ प्रत्येक क्रिया कर्म रूप है।[३] जब तक शरीर का बन्धन है, तब तक समस्त कर्म होते हैं।[४]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि नाथ-सम्प्रदाय में कर्म को अप्रतिवार्य माना गया है और यह प्रतिपादित किया गया है कि जीव और जीवेतर सृष्टि भी कर्माधीन है। वस्तुतः जब तक कर्म है, तब तक सृष्टि है और तभी तक बन्धन है। इस बन्धन से मुक्ति तब प्राप्त होती है जब पुरुष सुज्ञान से निष्कर्म आत्मा को देखता है तथा कर्म और तत्प्रसूत संशय त्याग कर वह आत्मलाभ करता है।[५] यही उसका कर्म बन्धन से परित्राण है।

ज्ञान

नाथ-सम्प्रदाय में ज्ञान का अर्थ ब्रह्म ज्ञान है। नाथ सिद्धों की साधनापरक वाणियों में पुनः-पुनः ब्रह्म ज्ञान की चर्चा है और कहा गया है कि ब्रह्म ज्ञान से ही आत्मा प्रकाशित होता है। गोरखनाथ ने कहा है कि ज्ञान वह दीप है जिससे परम ब्रह्म का प्रकाश होता है।[६] सिद्ध योगी दत्तात्रेय ने कहा है कि मनुष्य यदि आत्मा को जान लेता है तो उसे किसी प्रकार की ज्ञान चर्चा की आवश्यकता नहीं।[७] इसका अभिप्राय यह है कि

---

१ ब्रह्मा बिसन महेसर।
देव कर्म बिरमते॥
—नाथ सिद्धों की बानियाँ पृ १९।

२. नाथ सिद्धों की बानियाँ पृ १९।

३ पाप पुन करम का बाता।
—गोरखबानी पृ १६४

४ सरीर तू कोटि करमा। ब्रह्म कर्म न छीयते॥
—नाथ सिद्धों की बानियाँ पृ १५

५. करम भरम हम त्याग करते। यह मन सतगुर उपाया॥
करम भरम का सबा त्यागा। अगर अगोचर पाया॥
—नाथ सिद्धों की बानियाँ, पृ ५७

६ अगम ग्यान को दीवा अगर प्रकास।
—गोरखबानी पृ २१

७ आत्मा जानंत तो क्या करै ग्यान।
—नाथ सिद्धों की बानियाँ पृ ५७

यथार्थ ज्ञान तो ब्रह्म ज्ञान ही है, शेष तो वाणी का विलासमात्र ही है। गोरखनाथ की वाणी में 'अतीत अनुपम ग्यान' 'अतीत पुरुस ग्यान पद परसै'[2] 'आत्मा ग्यान ब्रह्म ग्यान'[3] 'ग्यान का ग्यान चैतनि'[4] इत्यादि के द्वारा यही प्रकट किया गया है कि ज्ञान का यथार्थ अभिप्राय ब्रह्म ज्ञान है जो चैतन्य आत्म तत्व को प्रकाशित करता है। यह ज्ञान नाथ सिद्धों की साधना में 'निरालम्ब निरंजन निराकार'[5] का ज्ञान कहा गया है और यही नाथ योगियों का परम प्राप्तव्य माना गया है।

नाथ योगियों का कथन है कि जब ब्रह्मज्ञान प्रकाशित होता है तब काल का प्रभाव नष्ट हो जाता है।[6] वस्तुतः ज्ञान के खड्ग से ही काल पर विजय प्राप्त की जा सकती है।[7] इस प्रकार यह प्रकट होता है कि ज्ञान अथवा ब्रह्म ज्ञान योगी को काल मुक्त करता है।

अवतार

नाथ-सम्प्रदाय अव्यक्त निर्गुण ब्रह्म का उपासक है। 'गीता' के प्रसंग में हम कह चुके हैं कि शास्त्रोक्त पद्धति के अनुसार ब्रह्म युगों के द्वारा अवतार धारण करता है। नाथ-सम्प्रदाय में इस धारणा के लिए कोई स्थान नहीं है। अवतार व्यक्त-सगुण ब्रह्म का होता है। सगुण की उपासना नाथ योगियों का लक्ष्य नहीं है। नाथ-सम्प्रदाय में इसीलिए अवतारों को ब्रह्म से भिन्न मायिक एवं कर्मवश प्रतिपादित किया गया है। निम्नलिखित विवेचन से हमारा मन्तव्य स्पष्ट हो जायगा।

नाथ-सम्प्रदाय का निर्गुण अव्यक्त ब्रह्म ब्रह्म के लोक-प्रचलित ब्रह्मा विष्णु एवं महेश के गुणावतारों से पृथक भिन्न और श्रेष्ठ है। 'गोरखबानी' में तो स्पष्ट कहा गया है कि ब्रह्मा विष्णु एवं महेश्वर की जननी माया है और माया इनकी पत्नी भी है —

---

१ गोरखबानी पृ १ २

२ गोरखबानी पृ १४६

३ गोरखबानी पृ ११९

४ गोरखबानी पृ १८८

५. नाथ सिद्धों की बानियाँ पृ ४६

६ काल ग्रसन जब ग्यान प्रकासा।

—गोरखबानी पृ १११

७ ग्यान खड्ग लै काल संहुन्त।

—गोरखबानी पृ० २४२

ब्रह्मा बिष्णु नै आदि महेस्वर ये तीन्यू मैं जाया की।
इस त्रिगुणा नी मैं घर बरजी हूँकर मोरी माया की ॥[1]

इससे अवतारो का पूर्ण महत्त्व खण्डित हो जाता है। वस्तुतः नाथ-सम्प्रदाय का मत यही है कि अवतार मायिक हैं, वे निरञ्जन ब्रह्म नहीं हैं।

गोरखनाथ ने अन्यत्र 'ब्रह्म देवता नाद ब्याप्या'[2] अर्थात् ब्रह्मा ने सरस्वती के साथ योग किया 'अतएव विष्नु की माया'[3] 'विष्न दस अवतार ब्याप्या अतएव करप ब्याप्या'[4] अर्थात् विष्णु के दसावतारो की स्थिति हुई इत्यादि के द्वारा अवतारो को मायिक तथा सीमाधीन ही प्रस्तुत किया है। इस प्रकार नाथ-सम्प्रदाय मे अवतारो का महत्त्व खण्डित है।

नाथसिद्धों की साधनापरक रचनाओं अथवा बानियो मे भी अवतार को अमान्य सिद्ध करने वाले खण्डनात्मक तत्त्व विद्यमान हैं। निम्नांकित उद्धरण से हमारा अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है।

ब्रह्मा पैम कुलाल सार्थ। अठ ब्रह्माण्ड रेउ भवते ॥
बिसन पैम दस औतारं। महा संकट बन बास ॥
शिवी पैम कपाल पानी। भूमि भिख्यरन फारतै घट घट ॥
तस्माद् विधि अभेदा। न दर्शन नाथजी रूप रेखा ।[5]

यह उत्तर सिद्धयोगी भर्तृहरि ने मंत्री द्वारा 'भजे प्रभु न राम नाम'[6] अर्थात् योग छोड़ कर तुम अवतारी राम को क्यों नहीं भजते, कहने पर दिया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि नाथ-सम्प्रदाय ने ब्रह्म के ब्रह्मा विष्णु महेश नामक गुणावतार एवं राम आदि लीलावतार को कार्यबद्ध एवं 'महा संकट बन बास' के द्वारा आवागमन चक्रयुक्त प्रतिपादित किया है।

नाथ-सम्प्रदाय का 'निरंजन' ब्रह्म कर्म एवं आवागमन चक्र से पूर्णतया वियुक्त है। अतएव वह अवतार हो ही नहीं सकता। नाथयोगियों ने ब्रह्म के सम्बन्ध में 'नहीं न बस्त

---

१ गोरखबानी पृ ९१।
२ गोरखबानी पृ ११।
३ गोरखबानी पृ १०।
४ गोरखबानी पृ १०।
५. नाथ सिद्धों की बानियाँ पृ १०७ १ ८।
६ नाथ सिद्धों की बानियाँ पृ १०

मार्ग ना जाई'[1] कह कर वस्तुतः परात्पर से ब्रह्म के अवतार होने का खण्डन ही किया है, जो लीला रूप में आवागमन चक्र में पड़ता है। इस प्रकार नाथमत में अवतारों को परब्रह्म न मानने की परम्परा विद्यमान थी। साधना के अन्य तत्वों के साथ यह परम्परा भी संतों को प्राप्त हुई।

योग

गोरखनाथ तथा अन्य सिद्ध नाथ योगियों ने जिस साधना मार्ग को प्रस्थापित किया उसे नाथ-सम्प्रदाय कहते हैं। नाथ-सम्प्रदाय की साधना पद्धति पूर्णतया योग आधारित है। निम्नलिखित पंक्तियों में नाथ-सम्प्रदाय में योग का स्वरूप प्रस्तुत किया जायगा।

नाथ-सम्प्रदाय में अष्टांग योग की भी चर्चा है[2] पर सामान्यतः षडंग योग मान्य है। 'गोरक्षपद्धति' में आसन प्राणायाम प्रत्याहार, धारणा ध्यान और समाधि नामक योग के षडंग बताए गए हैं।[3] आसन अनेक हैं किन्तु मुख्य आसन दो ही माने गए हैं सिद्धासन और पद्मासन।[4] 'गोरक्षपद्धति' में ही प्राणायाम का वर्णन करते हुए कहा गया है कि 'प्राणवायु' जो देह में स्थित है और अप नवायु को ऊपर उठाए रोक कर एक ही श्वास में (कुम्भकीकर से) द्वार (सुषुम्ना द्वार) को खोलकर (सुषुम्ना नाड़ी से चिदाकाश में) ऊर्ध्व गति कराता है।[5] प्राणायाम तीन प्रकार का होता है रेचक पूरक और कुम्भक।[6] प्रत्याहार का स्वरूप निर्दिष्ट करते हुए कहा गया है कि रूप रस गंध स्पर्श शब्द ये पाँच विषय हैं। इनमें चक्षु, जिह्वा घ्राण त्वक् कर्ण इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों के

---

१ नाथ सिद्धों की बानियाँ पृ १ ९।

२ सिद्धसिद्धान्तपद्धति, २।४९ ५।

३ आसन प्राणसरोधः प्रत्याहारश्च धारणा।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि वदन्ति षट्॥
—गोरक्षपद्धति १।७

४ आसनेभ्यः समस्तेभ्यो द्वयमेतदुदाहृतम्।
एकं सिद्धासनं प्रोक्तं द्वितीयं कमलासनम्॥
—गोरक्षपद्धति १।११

५. प्राणो देहे स्थितो वायुरपानस्य निरोधनात्।
एकश्वसनमात्रेणोद्घाटयेद्गगने गतिम्॥
—गोरक्षपद्धति २।१

६. रेचकः पूरकश्चैव कुम्भकः प्रणवात्मकः।
प्राणायामो भवेदेवं मात्राद्वादशसंयुतः॥
—गोरक्षपद्धति २।२

क्रम है अर्थात् उक्त ज्ञानेन्द्रियों के उक्त विषय क्रम से हैं। जिस इन्द्रिय का जो विषय है उसे दूसरे के समीप कर क्रमशः धीरे-धीरे त्याग करना अर्थात् इन्द्रिय से उसके विषय का अनुभव करके फिर इन्द्रियों को विषय से अलग करना प्रत्याहार है।[1] धारणा के सम्बन्ध में 'गोरक्ष पद्धति' में कहा गया है कि 'हृदय में मन एवं प्राण वायु को निश्चल करके पृथ्वी जल तेज वायु और आकाशात्मक पंच भूतों को पृथक्-पृथक् संचार करना धारणा है।[2] चित्त में योगशास्त्रोक्त प्रकार से निर्मलातर करके आत्मतत्व का स्मरण करना ध्यान है।[3] मन एवं प्राण को एकत्र करके स्थिर होकर आत्म भावना करने वाले योगी का जब प्राणवायु आत्मा ही में लीन होता है तब अन्तःकरण भी लीन होता है इस अन्तिम स्वरूपता को समाधि कहते हैं।[4] पतञ्जल योग का यह स्वरूप नाथ-सम्प्रदाय के ग्रन्थ ग्रन्थों में भी उपलब्ध है।

नाथ-सम्प्रदाय की साधना पद्धति हठयोग है।[5] हठयोग साधारणतः प्राण निरोध प्रधान साधना है।[6] 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में 'ह' का अर्थ सूर्य कहा गया है और 'ठ' का अर्थ चन्द्र।[7] अतएव सूर्य और चन्द्र के योग को ही 'हठयोग' कहते हैं।[8] सूर्य और चन्द्र का अभिप्राय इडा और पिंगला नाड़ी भी होता है।[9] इसलिए इडा और पिंगला नाड़ियों को रोककर सुषुम्ना मार्ग से प्राणवायु के संचरण को भी हठयोग कहते

---

१ चरतां चक्षुरादीनां विषयेषु यथाक्रमम् ।
यत्प्रत्याहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते ॥
—गोरक्षपद्धति २।२१

२ हृदये पञ्चभूतानां धारणा च पृथक् पृथक् ।
मनसो निश्चलत्वेन धारणा साभिधीयते ।
—गोरक्षपद्धति २।५३

३ स्मृत्यैव सर्वचिन्तायां धातुरेकः प्रपद्यते ।
यच्चित्ते निर्मला चिन्ता तद्धि ध्यानं प्रचक्षते ॥
—गोरक्षपद्धति २।६१

४ यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते ।
तदा समरसत्वं च समाधिः सोऽभिधीयते ॥
—गोरक्षपद्धति २।८७

५. नाथ सम्प्रदाय पृ १२१ ।
६. वही पृ १२१ ।
७ वही पृ १२१ ।
८ वही पृ १२१ ।
९ वही पृ १२१ ।

है।[1] हठयोग को इसी हेतु नाडी योग भी कहा जाता है। इस सम्बन्ध में नाथयोगियों ने विस्तृत नाड़ियों चक्रों आदि का विशद वर्णन किया है। शरीर में बहत्तर हजार नाड़ियाँ मानी गई हैं[2] जिनमे से मुख्य तीन हैं इडा पिंगला एवं सुषुम्ना। इडा नाडी वामांग में है पिंगला नाड़ी दक्षिभाग में इसके मध्य में सुषुम्ना नाडी है।[3] सुषुम्ना नाड़ी की छः ग्रन्थियों में पद्माकार के छः चक्र संलग्न हैं। इन चक्रों को क्रमश आधार, स्वाधिष्ठान मणिपुर, अनाहत विशुद्ध और आज्ञा माना गया है।[4] योगी जब प्राणवायु का निरोध करके मूलाधार चक्र में सुप्त कुण्डलिनी शक्ति को उद्बुद्ध करता है तब कुण्डलिनी क्रमश षटचक्रों को भेद कर सप्तम एवं अन्तिम चक्र सहस्रार में शिव से जा मिलती है।[5] कुण्डलिनी का सहस्रार या सहस्र दल कमल में विलय ही योगी का लक्ष्य है।

नाथ-सम्प्रदायमे मुख्य रूप से हठयोग का ही वर्णन है किन्तु अन्य योगों की चर्चा भी की गई है। 'अमरौघप्रबोध' में चारों प्रकार के योगों की व्याख्या की गई है। इसमें कहा गया है कि चित्त का सतत लय लययोग है, हठयोग प्रमत्तमनविधानरत है मन्त्रयोग मंत्र साधना युक्त है एवं राजयोग चित्तवृत्तिरहित होता है।[6] इसके साथ इस ग्रन्थ में यह भी संकेत कर दिया गया है कि मंत्र लय और हठयोग राजयोग के लिये हैं। इसका अभिप्राय यह है कि अन्य योग सम्प्रदायों की भाँति ही नाथ-सम्प्रदाय भी समाधि

---

१ नाथ-सम्प्रदाय पृ १२६।

२ योग मार्तण्ड १७वाँ श्लोक।

३ इडा वहति वामे च पिंगला वहति दक्षिणे।
इडापिंगलयोर्मध्ये सुषुम्ना सूक्ष्म रूपिणी॥
—योगविषय ११वाँ श्लोक

४ आधार स्वाधिष्ठानञ्च मणिपूरमनाहतम्।
विशुद्धिराज्ञाकोऽपि षट् चक्राणि बुधाणि च॥
—योग विषय ७वाँ श्लोक

५ नाथ सम्प्रदाय पृ १२६।

६ अच्छिन्नचित्तलयम स लय प्रदिष्ट।
यस्तु प्रमत्तमनविधान रतो हठस्य।
यो मंत्रमूर्तिभजन स तु मन्त्रयोग।
अचित्तवृत्तिरहित स तु राजयोग॥

७ श्रीमद्गोरक्षनाथेन समामरौघनामिना।
लयमन्त्रहठा प्रोक्ता राजयोगाय केवलम्॥
—अमरौघ प्रबोध ७१वाँ श्लोक

का जिज्ञासु है एवं उसे ही परमप्राप्तव्य मानता है। गोरखनाथ के 'योगबीज' ग्रन्थ में भी चार योगों की संक्षिप्त एवं स्पष्ट रूपरेखा प्रस्तुत की गई है।[1] इसके लक्षण प्राय वही हैं जिनका उपर्युक्त पंक्तियों में वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ में यह विशेष रूप से कहा गया है कि मंत्रयोग हठयोग लययोग एवं राजयोग एक ही योग की क्रमशः चार अन्तर्भूमिकाएँ होती हैं यह एक ही महायोग चार प्रकार का कहा जाता है।[2]

नादानुसंधान गोरखनाथ उपदिष्ट योग मार्ग का मुख्य तत्त्व है। कुण्डलिनी के उद्बुद्ध होने पर प्राण स्थिर हो जाता है एवं साधक शून्य पथ से निरन्तर उस अनाहत ध्वनि या अनहद नाद को सुनने लगता है जो अखंड रूप से निखिल ब्रह्माण्ड में अनवरत ध्वनित हो रहा है।[3] नाद या अनाहत नाद का वर्णन प्राय नाथ-सम्प्रदाय के ग्रन्थों में किया गया है। 'योगमार्तण्ड' में कहा गया है कि गगन (सहस्रार ब्रह्मरन्ध्र) में वायु (प्राणवायु) के प्रवेश करने पर घंटादि गम्भीर नाद महान ध्वनि से उत्पन्न होता है जिससे सिद्धि दूर नहीं रहती[4] अर्थात् सिद्धि प्राप्त होती है। यही गोरखनाथ का नादानुसंधान है जिसका वर्णन नाथ-सम्प्रदाय के प्रायः ग्रन्थों में पुनः-पुनः किया गया है। 'गोरखबानी' में गगन में प्रकट होने वाले सार के भी सार एवं अत्यन्त गम्भीर नाद की चर्चा है।[5] इसी ग्रन्थ में गगन या ब्रह्मरंध्र में अनाहत नाद के ध्वनित होने का उल्लेख किया गया है।[6] इसी प्रकार 'नाथ सिद्धों की बानियों' में 'नाद गगनी गहै'[7] 'गगन मंडल में मढी हमारी। अनहद बीनी नादै जी'[8] 'नाद गगाजै न छीजै काया'[9]

---

१ योगबीज १४१, १४२ श्लोक।

२ मन्त्रो हठो लयो राजयोगान्तर्भूमिकाः क्रमात्।
एक एव चतुर्धा यं महायोगो भिधीयते ॥
—योगबीज १४३, १४४ श्लोक

३ नाथ सम्प्रदाय पृ १२६।

४ यदा गगने प्राप्ते ध्वनिरुत्पद्यते महान्।
घण्टादिनादगम्भीर सिद्धिस्तस्य न दूरत ॥
—योगमार्तण्ड १ ८वां श्लोक

५ सारमसारं गहर गंभीर गगन उछलिया नादं।
—गोरखबानी पृ ५

६ गगनमंडल मैं अनहद बाजै ब्यंद गहै तो जगगुर लाजै।
—गोरखबानी पृ १६

७ नाथ सिद्धों की बानियाँ पृ १८

८ " पृ २।

९ " पृ ५१।

गगन हमारा बाजा बाजै 'सुनि मैं सुनि तहां नाद बाजै'[1] नाद बिंद बंकाइक रोकै। पुरिमैं अनहद बाजा[2] इत्यादि के द्वारा नादानुसंधान का महत्त्व ही विज्ञापित किया गया है।

नाथ-सम्प्रदाय में मुद्राओं का वर्णन यथेष्ट विस्तार से किया गया है। मुद्रा का उद्देश्य ऊर्ध्व की ओर शक्ति चालन है इसीलिए अमरौघ शासन में मुद्रा को 'चारणा' (चलाने वाली) कहा गया है।[4] गोरक्षपद्धति में दस मुद्रा का वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है—महामुद्रा खेचरीमुद्रा उड्डीयानबंध जालंधर, मूलबंध महावेध विपरीतकरणी, वज्रोली महाबन्ध तथा शक्तिचालन।[5] इनमें से प्रथम पांच महामुद्रा खेचरी मुद्रा उड्डीयान बंध जालंधर और मूलबन्ध को मुक्ति में विशेषरूप से सहायक माना गया है।[6] महामुद्रा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि हृदय में चिबुक लगा कर वामपाद की एड़ी से योनिस्थान को अच्छी तरह दृढ़ करके अपने दाहिना पाद लम्बा करके दोनों हाथों से पादमध्य भाग पकड़ के दृढ़ रोके तब पेट में पूरक विधि से वायु भरे कुछ काल यथाशक्ति कुम्भक करके मन्द-मन्द वायु को रेचन करे। यह योगियों के समस्त रोगों का नाश करने वाली महामुद्रा है।[7] जिह्वा को उलट कर कंठमूलस्थ छिद्र में प्रवेश कराना एवं तदनन्तर भ्रूमध्य में निश्चल दृष्टि स्थिर करना खेचरी मुद्रा है।[8] नाभी का ऊपर तथा नीचे का भाग उदर में सम भाग और पेट को पीछे खींचे रखे उड्डीयानबंध कहते हैं। यह

---

१ नाथ सिद्धों की बानियां पृ ७०।
२ ,, पृ ९।
३ ,, पृ १५।
४ नाथ-सम्प्रदाय पृ ११।
५ गोरक्षपद्धति पृ ५४।
६ महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयानं जलंधरम्।
मूलबन्धञ्च यो वेत्ति स योगी मुक्तिभाजनम्॥
—गोरक्षपद्धति १।५७
७ वक्षोन्यस्तहनु प्रपीड्य सुचिरं योनिं च वामांघ्रिणा।
हस्ताभ्यामनुधारयेत प्रसरितं पादं तथा दक्षिणम्॥
आपूर्य श्वसनेन कुक्षियुगलं बद्ध्वा शनै रेचयेदेषा।
व्याधिविनाशिनी सुमहती मुद्रा नृणां कथ्यते॥
—गोरक्षपद्धति १।५८
८ कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी॥
—गोरक्षपद्धति १।६१

मृत्युरूपी गज को निवृत्त करने के लिए सिंह के समान है। कंठ को नीचे करके हृदय के चार अंगुल ऊपर पर ठोड़ी लगाकर दृढ़ स्थापन करे यह जालन्धर बन्ध वृद्धावस्था तथा मृत्युनाशक है।[1] अपानवायु ऊपर खींच के प्राणवायु से युक्त करना पाद की एड़ी से गुदा एवं लिंग के मध्य योनि स्थान को दृढ़ दबाने के पश्चात् गुदा को दृढ़ संकुचित करना कि जिससे अपान वायु बाहर न निकले मूलबन्ध मुद्रा है।[3] नाथ-सम्प्रदाय के भाषा ग्रन्थों में इन मुद्राओं में से कतिपय का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है। 'गोरखबानी' में अमरोली एवं वज्रोली[4] तथा भर्तृहरि के 'सप्त वार' ग्रन्थ में खेचरी मुद्रा[5] की चर्चा की गई है। अतएव नाथ-सम्प्रदाय में मुद्रा योगसाधना का मुख्य अङ्ग है।

शरीर में तीन ऐसी वस्तुएं हैं जो परम शक्तिशाली हैं, पर चंचल होने के कारण वे मनुष्य के काम नहीं आ रही हैं। वे तीन वस्तु हैं—पवन मन और बिन्दु।[6] इनमें से किसी एक को वश में करने से अन्य भी वशीभूत हो जाती हैं।[7] वस्तुतः प्राणजय और मनोजय के प्राचीन सिद्धान्त के साथ नाथ-सम्प्रदाय ने बिन्दुजय का योग और कर दिया। गोपीचंद की सबदी में कहा गया है कि मन के चंचल होने से पवन चलायमान होता है जिससे बिन्दु स्खलित होकर शरीर नाश करता है।[8] इससे परित्राण पाने के

---

१ उदरे पश्चिम तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत् ।
उड्डीयानो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातङ्ग केसरी ॥
—गोरक्षपद्धति १।७७

२ कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ।
बन्धो जालन्धराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः ॥
—गोरक्षपद्धति १।७९

३ पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद् गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धो विधीयते ॥
—गोरक्षपद्धति १।८१

४ अवरी करतां अमरी खाई अमरि करतां बाई ।
भोग करता जे ब्यंद राखै ते गोरष का गुरभाई ॥
—गोरखबानी पृ ४९

५ तीजा बंद निवारहु पाना ।
खेचरी मुद्रा स्यावत भावा ॥
—नाथ सिद्धों की बानियाँ पृ ७

६ नाथसम्प्रदाय पृ १२४।

७ ,, पृ १२४।

८ मन चलता पवन चलै पवनतालिय ।
बिंद चलता कन पडै । यूं भाषी गोपीचंद ॥
—नाथ सिद्धों की बानियाँ पृ १९

लिए पवन या प्राणवायु का निरोध करके मन को स्थिर करना चाहिये जिससे बिन्दु ऊर्ध्वग होता है फलस्वरूप योगी का शरीर स्थैर्य प्राप्त करता है। 'गोरखबानी' में भी बहुत कुछ इसी पद्धति पर कहा गया है कि पवन के संयम से (नवद्वार) बन्द हो जाते हैं एवं बिन्दु के संयम से शरीर स्थिर होता है।[2] काया को ऊर्ध्वग करके योग साधना के अनुकूल करने के लिए मन पवन और बिन्दु का स्थिर होना नितान्त आवश्यक है। इसी को दृष्टि में रखकर नाथ-सम्प्रदाय ने पवन मन और बिन्दु के बन्ध को इतना महत्व प्रदान किया है।

नाथमत का एक मुख्य सिद्धान्त यह है कि जो कुछ ब्रह्माण्ड में है वह सभी पिंड में है।[3] पिंड मानो ब्रह्माण्ड का संक्षिप्त संस्करण है।[4] इस सिद्धान्त का आधार यह बताया गया है कि पिंड उसी प्रक्रिया से बना है जिससे ब्रह्माण्ड बना है।[5] इसी साम्य के आधार पर पिंड में ब्रह्माण्ड के समस्त तत्व रूपों के रूपी माने गए हैं।[6] मनुष्य शरीर को प्रधान पिंड मानकर इसकी व्याख्या की गई है। यह व्याख्या सिद्ध सिद्धान्त पद्धति ग्रन्थ में बड़े विस्तार से की गई है और बताया गया है कि शरीर के किस स्थान में कौन सा तत्व विद्यमान है।[7] उदाहरणार्थ सिद्धसिद्धान्तपद्धति में बताया गया है कि समस्त वर्ण पिंड में हैं सदाचार में ब्राह्मण शौर्य में क्षत्रिय व्यवसाय में वैश्य और सेवाभाव में शूद्र हैं।[8] पिंड में ही सप्तद्वीप हैं मज्जा में जम्बूद्वीप अस्थि में शाकद्वीप शिरा में कुशद्वीप वसु में क्रौंचद्वीप रोम में गोमेदद्वीप नख में श्वेतद्वीप और मांस

---

१ पवन थिर तो मन थिर। मन थिर तो ब्यंद।
ब्यंद थिरता कंध थिर। यों बोलंत गोपीचंद ॥
—नाथसिद्धों की बानियाँ पृ० १८

२ पवना संजमि जाई बद ब्यंद के संजमि थिरहू ह्वै कंद ॥
—गोरखबानी पृ० ४१

३ नाथ सम्प्रदाय पृ० ११।

४ " पृ० ११।

५ " पृ० ११।

६ पृ० ११।

७. सिद्धसिद्धान्त पद्धति तृतीय उपदेश।

८ सदाचारे ब्राह्मण शौर्ये क्षत्रिय व्यवसाये।
वैश्या सेवाभावे शूद्रश्चतुर्ण्णामन्तरे चतुःषष्टिवर्णाः ॥
—सिद्ध सिद्धान्तपद्धति ३।६

में सप्तद्वीप की अवस्थिति है।[1] शरीर में ही सप्त समुद्र हैं—मूत्र में क्षार समुद्र लाला में क्षीर समुद्र कफ में दधि समुद्र मेदा में घृत समुद्र वसा में मधु समुद्र रक्त में इक्षु समुद्र और शुक्र में अमृत समुद्र है।[2] पिंड के नव द्वारों में भारतखंड काश्मीरखंड कर्परखंड श्रीखंड एकपादखंड गान्धारखंड कैवर्तखंड महामेरुखंड इत्यादि नवखंड बसते हैं।[3] इसके अतिरिक्त पर्वत नदी तारामंडल नवग्रह यक्ष पिशाच राक्षस भूत प्रेत नाग गंधर्व किन्नर तीर्थस्थान वृक्ष लता कीट पतंग ऋषि मुनि इत्यादि की पिंड में अवस्थिति बड़े विस्तार से वर्णित है।[4] इससे यह अनुमान करना असंगत न होगा कि नाथ-सम्प्रदाय में योगी के लिए काया ज्ञान का कितना महत्व है।

उपर्युक्त पंक्तियों में नाथ-सम्प्रदाय में योग साधना के विकास का स्वरूप निर्धारित किया गया है। इन विषयों के अतिरिक्त ध्यान एवं योग[5] देवविद्या या अजपा[6] पंचशून्य[7] पंचवायु[8] षडावस्था[9] नवचक्र षोडशाधार पंचव्योम[12] आदि विषयों का भी सुविस्तृत विवरण नाथ-सम्प्रदाय के ग्रन्थों में प्राप्त होता है। वस्तुतः नाथ सम्प्रदाय का योग सम्बन्धी साहित्य विपुल है और उसमें योग के विभिन्न अंगों की साम्प्रदायिक पद्धति पर व्याख्या की गई है।

---

१ मज्जायां जम्बूद्वीपं अस्थिषु शाकद्वीप
शिरासु सूक्ष्मद्वीपं त्वचि क्रौंच द्वीप
रोमसु गोमयद्वीप नखेषु श्वेतद्वीप मांसे। आस्थिति। प्लक्षद्वीप एवं सप्तद्वीपा ॥
—सिद्धसिद्धान्त पद्धति ३।७

२. मूत्रे क्षार समुद्रः लालायां क्षीर समुद्रः कफे दधि
समुद्रः मेदसि घृत समुद्रः वसायां मधु समुद्रः रक्ते
इक्षु समुद्रः शुक्रं मृत समुद्रः एवं सप्तसमुद्राः ॥
—सिद्धसिद्धान्तपद्धति ३।८

३ नवखंडाः नवद्वारेषु वसन्ति। भारतखंडं काश्मीरखंडं
कर्परखंडं श्रीखंडं एकपाद खंडं
गान्धारखंडं कैवर्तखंडं महामेरुखंडं एवं नवखंडाः ॥
—सिद्धसिद्धान्त पद्धति ३।९

४ सिद्धसिद्धान्त पद्धति ३।१ ११।
५. योगबीज ९९ वाँ श्लोक।
६ गोरक्षपद्धति १।४४।
७ सिद्धसिद्धान्तपद्धति ६।९४।
८. योगविषय १४वाँ श्लोक।
९. अमरौघप्रबोध ७वाँ श्लोक।
१ सिद्धसिद्धान्त संग्रह, २।१-१२।
११ „ २।१४ ६१।
१२ सिद्धसिद्धान्त पद्धति २।३ ।

निर्गुण-सम्प्रदाय

ब्रह्म

निर्गुण-साहित्य में भी अव्यक्त ब्रह्म की उपासना विशेष है। ब्रह्म के अव्यक्त स्वरूप का वर्णन निर्गुण निरुपाधि परात्पर सत्य एवं शून्य ब्रह्म के रूप में प्रायः सब निर्गुण कवियों ने किया है। निर्गुण कवि ब्रह्म के निर्गुण निरुपाधि एवं निर्विशेष रूप का विशेष रूप से प्रतिपादन करते हैं। कबीर, दादू, नानक सुन्दरदास दरिया साहब इत्यादि संत कवियों ने निर्विशेष ब्रह्म का वर्णन मुख्यतः किया है। सत्य ब्रह्म भी निर्गुण काव्य में समादृत है और उसका वर्णन भी प्रायः सब संत कवियों ने किया है। परात्पर ब्रह्म एवं शून्य ब्रह्म भावना भी समान रूप से संत कवियों का वर्ण्य विषय रही है। निम्नांकित विवेचन से निर्गुण काव्य की ब्रह्म भावना का स्वरूप स्पष्ट हो जायगा।

निर्गुण-काव्य का ब्रह्म एक है।[1] निर्गुण साधक एकमात्र परब्रह्म की उपासना करते हैं और बहुदेववाद का घोर विरोध करते हैं। कबीर ने एकमात्र 'राम' की उपासना को मान्यता प्रदान की है और बहुदेववादी को उस व्यभिचारिणी स्त्री के समान निर्दिष्ट किया है जो अपने पति को त्याग कर परपुरुष पर आसक्त रहती है।[2] उन्होंने बहुदेववादी को उस गणिका पुत्र के समान बताया है जो इस बात को नहीं जानता कि उसका वास्तविक पिता कौन है।[3] कबीर ने कहा है कि हिन्दू और मुसलमानों का परब्रह्म एक है उसी परब्रह्म की उपासना करनी चाहिए।[4] नानक दि

१ ईस्वर एक और नहिं कोई। ईस सीस पर राखहु सोई॥

—सुन्दर ग्रन्थावली प्रथम खण्ड पृ ११९

२ नारि कहावै पीव की रहै और संग सोय।
जार सदा मन में बसै खसम खुसी क्यों होय॥

—संत बानी संग्रह, प्रथम भाग पृ १४

३ राम पियारा छाडि कर करै आन को जाप।
बेस्या केरा पूत ज्यूं कहै कौन सू बाप॥

—कबीर ग्रन्थावली पृ ६

४ कहै कबीर एक राम जपहु रे हिन्दू तुरक न कोई।
हिन्दू तुरक का कर्ता एकै ता गति लखी न जाई॥

—कबीर ग्रन्थावली पृ १६

समय 'इक अविनाशी करता पुरुष निरभौ निरवैर अकालमूरति अजूनि सैभं'[1] की भक्ति का प्रचार कर रहे थे उस समय उनका प्रयास अवश्य बहुदेववाद का खण्डन ही था। वस्तुतः जगत का कर्ता धर्ता एकमात्र परमात्मा है उसको छोड़कर अन्य की आराधना का कोई तार्किक आधार सन्तों को ग्राह्य न था। चरनदास ने अपनी एकदेवनिष्ठा को बड़े शक्तिशाली ढंग से व्यक्त करते हुए कहा है कि सिर कटकर पृथ्वी पर भले ही लोटने लगे मृत्यु भले ही उपस्थित हो किन्तु 'राम' के अतिरिक्त किसी अन्य देवता के लिए मेरा मस्तक नहीं झुकेगा।[2] सन्त कवि दरिया ने 'एक ब्रह्म एक है टेक कोई नहीं'[3] के द्वारा एकमात्र परब्रह्म की आराधना की है। इस प्रकार निर्गुण काव्य बहुदेववाद के प्रत्याख्यान के साथ एकेश्वरवाद की स्थापना करता है।

निर्गुण काव्य का एकेश्वर या परब्रह्म अव्यक्त निर्गुण ब्रह्म है। कबीर ने 'आदयन्त अछय अभेद विधाता'[4] कह कर अव्यक्त निर्गुण निराकार अखण्ड परब्रह्म का प्रतिपादन किया है। धर्मदास ने भी 'अविगत से परिचै भई, तो आवागमन निवारि'[5] के द्वारा अव्यक्त ब्रह्म की उपासना से मोक्ष का वर्णन किया है। सुन्दरदास ने 'अव्यक्त पुरुष अगम अपार'[6] कहकर परब्रह्म को अव्यक्त ही निर्धारित किया है और कहा है कि बुद्धिगोचर न होने के कारण वह वर्णनातीत है। यथार्थ यही है कि परब्रह्म के अव्यक्त निर्गुण स्वरूप को व्यक्त करने में वाणी सर्वदा असमर्थ रही है। इन्द्रियातीत ब्रह्म को न तो बुद्धि द्वारा ग्रहण किया जा सकता है और न वाणी द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। इसी कठिनाई के कारण सत्यान्वेषी साधकों को निषेधमुखेन ब्रह्म का वर्णन करना पड़ा है। 'परमात्मा यह है' न कहकर वे कहते हैं 'परमात्मा यह नहीं है, यह नहीं है।' उपनिषदों में इस प्रणाली का प्रयोग किया गया है और सन्तों ने भी इस रूप में

---

१ जपुजी साहिब पृ० १

२ यह सिर नवे त राम कूं, नाहीं गिरियो टूट।
आन देव नहिं परसिए, यह तन जायो छूट॥
—संत बानी संग्रह, प्रथम भाग पृ० १४७

३ दरिया साहब की ग्रन्थावली पृ० १

४ कबीर ग्रन्थावली पृ० १८९

५ धर्मदास की ग्रन्थावली पृ० ७७

६ अव्यक्त पुरुष अगम अपारा।
कैसे करि कहिये निर्धारा॥
आदि अंत कछु जाइ न जानी।
मध्य चरित्र सु अकथ कहानी॥
—सुन्दर ग्रन्थावली प्रथम खण्ड पृ० ११।

परम्परा का अनुसरण ही किया है। कबीर ने कहा है कि न वह बालक है न बूढ़ा,[1] न उसकी माप है न मूल्य है, न ज्ञान है, न वह हल्का है, न भारी और न उसकी परख हो सकती है।[2] इसी क्रम में उन्होंने ब्रह्म को अगम अगोचर और अलख कहा है।[3] ब्रह्म अविगत और अभंग है।[4] धर्मदास ने कहा है कि ब्रह्म 'अलख अगम है'[5] वह अगम अगाध अचिन्त्य है।[6] संत सुन्दरदास का अव्यक्त निर्गुण निराकार ब्रह्म अचल अभेद है।[7] बिहार के संत दरिया साहब ने ब्रह्म को अलख[8] 'अमर'[9] और अलख कहा है। इस प्रकार समस्त संत काव्य में निर्गुण निराकार अव्यक्त परब्रह्म का पुन-पुन प्रतिपादन किया है। ब्रह्म का यही श्रेष्ठ स्वरूप है और संत साधकों का यही परमाराध्य है।

संत कवियों ने अव्यक्त निर्गुण ब्रह्म का परात्पर रूप में वर्णन भी किया है। कबीर ने ब्रह्म का सत रज तम से अतीत निर्देश किया है।[11] ब्रह्म पिंड से भी परे है और ब्रह्माण्ड से भी परे है।[12] इतना ही नहीं ब्रह्म भाव और अभाव दोनों से परे है

---

१ ना हम बार बूढ़ हम नाहीं ना हमरे चिलकाई हो।
—कबीर ग्रन्थावली पृ १०४

२ तोल न मोल माप कछु नाहीं गिनै ज्ञान न होई।
ना सो भारी ना सो हलुवा ताकी पारिख लखै न कोई॥
—कबीर ग्रन्थावली पृ १४४

३ अगम अगोचर लखी न जाई, जहाँ का सहज फिर तहाँ समाई।
—कबीर ग्रन्थावली पृ २१

४ आदि मध्य अरु अंत लौं अविहड़ सदा अभंग।
कबीर उस करता की सेवग तजै न संग॥
—कबीर ग्रन्थावली पृ० ८९

५ धर्मदास की शब्दावली पृ ७०

६ धर्मदास की शब्दावली पृ ४५

७ निराकार है नित्य स्वरूपं। अचल अभेद छांह नहिं धूपं॥
—सुन्दर ग्रन्थावली प्रथम खण्ड पृ ११

८ दरिया साहब की शब्दावली पृ ७

९ दरिया साहब की शब्दावली पृ २४

१० दरिया साहब की शब्दावली पृ १२

११ राजस तामस सात्विक तीन्यूँ ये सब तेरी माया।
चौथे पद को जो जन चीन्हैं तिनहिं परम पद पाया॥
—कबीर ग्रन्थावली पृ १२

१२ प्यंड ब्रह्मण्ड कथै सब कोई वाकै आदि अरु अन्त न होई।
प्यंड ब्रह्मण्ड छाँड़ि जे कहिये कहै कबीर हरि सोई॥
—कबीर ग्रन्थावली पृ १४९

अर्थात् न तो यही कहा जा सकता है कि वह भाव रूप है और न यही कहा जा सकता है कि वह अभाव रूप है[1] अतएव वह नाथयोगियों के ब्रह्म की भाँति भावाभावविनिर्मुक्त है। संत सुन्दरदास ने भी ब्रह्म के परात्परत्व का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि ब्रह्म वार और पार से मूल और डाला से सूक्ष्म और स्थूल से द्वैत और अद्वैत से परे है।[2] वस्तुतः सुन्दरदास का ब्रह्म 'अस्ति' एवं 'नास्ति' की सीमा से अतीत है। बिहार के संत दरिया साहब ने ब्रह्म को सगुण और निर्गुण से परे कहा है[3] एवं सत रज तथा तम से अतीत निर्दिष्ट किया है।[4] अन्यत्र उन्होंने 'पुरान पुरुष' ब्रह्म को तीन लोक से परे बताया है।[5] ब्रह्म के परात्परत्व के प्रतिपादन की प्रवृत्ति निर्गुण काव्य में इतनी बढ़ गई कि ब्रह्म को चतुर्थ पद से परे निर्दिष्ट किया जाने लगा। गुलाल साहब ने 'ब्रह्म अरूप अखण्डित पूरन चौथे पद सों न्यारो'[6] के द्वारा परब्रह्म को चौथे पद से भी परे निर्धारित किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि ब्रह्म के परात्पर स्वरूप का वर्णन निर्गुण काव्य के प्रायः सब प्रमुख कवियों ने किया है।

निर्गुण-सम्प्रदाय के काव्य मे शब्द ब्रह्म की भावना भी पूर्णतया विद्यमान है। शब्द ब्रह्म या नाद की चर्चा तो प्रायः सब संत कवियों की रचनाओं में दृष्टिगत होती है। कबीर ने 'ऊँकार आदि है मूला'[7] द्वारा शब्द ब्रह्म प्रणव ओंकार को सृष्टि का मूल तत्त्व बताया है। परब्रह्म को उन्होंने निरंजन शब्द रूप माना है—'शब्द निरंजन राम

---

१ कहा न उपजै उपजा नहिं जाने भाव अभाव बिहूना।
उदै अस्त जहाँ मति बुधि नाहीं सहजि राम ल्यौ लीना॥
—कबीर ग्रन्थावली पृ १४८

२ कोई वार कहै कोई पार कहै उसका कहूँ वार न पार है रे।
कोई मूल कहै कोई डार कहै उसके कछु मूल न डार है रे॥
कोई सूक्ष्म कहै कोई थूल कहै, वह सूक्ष्म हू थूल नियारा है रे।
कोई एक कहै कोई दोय कहै नहि सुन्दर द्वन्द पसार है रे।
—सुन्दर ग्रन्थावली प्रथम खण्ड पृ २१८

३ कोइ सरगुन निरगुन ठै कीना। जाके प्राण पिंड सब कीन्हा॥
—दरियासागर, पृ २

४ तीनों गुन ते रहित अनामा। प्राण पिंड जग सहित निवामा॥
—दरियासागर, पृ २०

५ दरिया साहब की ग्रन्थावली पृ ६

६ संत बानी संग्रह द्वितीय भाग पृ २ ६

७ कबीर ग्रन्थावली पृ २४४

नाम धावा।[1] अनाहत नाद वर्णन के ब्याज से कबीर ने शब्द ब्रह्म का निरूपण ही किया है। 'सबद अनाहद बोलै'[2] 'सबद अनाहद बाजा'[3] इत्यादि से उन्होंने नाद ब्रह्म की उपासना की है। एक स्थल पर तो उन्होंने 'अनमी सबद तत्त निज सारा'[4] कहकर शब्द ब्रह्म का सारभूत तत्त्व बताया है। दादू दयाल ने भी शब्द को सर्व समर्थ ब्रह्म कहा है।[5] संत धर्मदास ने भी अव्यक्त शब्द ब्रह्म का वर्णन 'अगम अरूपी जाप' तहां अनहद धुनि पावै'[6] 'शब्द सत्त दरशावै एवं सार शब्द मन भावै'[7] के द्वारा किया है। दरिया साहब ने भी कबीर और धर्मदास की भांति ही शब्द या नाद ब्रह्म को बड़ा महत्त्व प्रदान किया है। उन्होंने नादानुसंधान से शब्द ब्रह्म की उपासना की है। 'सत शब्द रही ठहराय'[8] 'सतगुरु शब्द से पूरण कोन'[9] एवं 'सब्द सजीवनि है या मूला'[10] 'सब्दै रचल सकल पसार' इत्यादि के द्वारा दरिया साहब ने शब्द ब्रह्म को सत्य, अमूल सृष्टिकर्ता तथा मूल तत्त्व कहा है। अतएव संत काव्य में शब्द ब्रह्म की भावना नादानुसंधान एवं सृष्टि के मूलभूत तत्त्व के रूप में स्वीकृत है।

शब्द ब्रह्म की भांति ही संत कवियों ने नाथ-योगियों के अनुकरण पर शून्य ब्रह्म का वर्णन भी किया है। शून्य ब्रह्म भावना भी अव्यक्त ब्रह्म भावना है। वस्तुतः निर्गुण काव्य में अव्यक्त निर्गुण ब्रह्म भाव 'शून्य' द्वारा विशेषरूप से वर्णित हुआ है। कबीर ने 'सुनि स्यौ लागी'[12] 'सुंनि मंडल मैं सोधि परम जोति परकास'[13] कहकर 'शून्य' ब्रह्म

---

१ कबीर ग्रन्थावली पृ ११४
२ कबीर ग्रन्थावली पृ १५४
३ कबीर ग्रन्थावली पृ ११०
४ कबीर ग्रन्थावली पृ १ ३
५. एक सबद सब कुछ किया ऐसा समरथ सोइ।
—दादू दयाल की बानी प्रथम भाग पृ० १९६
६ धर्मदास की शब्दावली पृ ७०
७ धर्मदास की शब्दावली पृ १६ एवं १
८. अनहद धुनि नहिं भेंट अमावै।
सब्द सिंहासन चरन समावै॥
—दरिया साहब की शब्दावली पृ० ५
९. दरिया साहब की शब्दावली पृ १५
१ दरिया साहब की शब्दावली पृ २३
११ दरिया सागर, पृ ५
१२ कबीर ग्रन्थावली पृ १ ९
१३ कबीर ग्रन्थावली पृ १२७

का वर्णन ही किया है। संत दादू दयाल ने निराकार निरंजन रूपी शून्य ब्रह्म का वर्णन 'बहा सुन तहं ब्रह्म है, निरंजन निराकार' के द्वारा किया है।[1] शून्य ब्रह्म का प्रतिपादन करते हुए संत सुन्दरदास ने कहा है कि रूपातीत शून्य ब्रह्म के ध्यान के समान अन्य कोई ध्यान नहीं है।[2] ब्रह्म शून्य होते हुए भी चक्रों दिशाओं में परिव्याप्त है।[3] धनी धर्मदास ने 'सुन्न महल से अमृत बरसै'[4] द्वारा ब्रह्मरन्ध्र स्थित सहस्रार की कर्णिका में स्थित चन्द्र से स्रवित होने वाले चन्द्रामृत का वर्णन किया है। इससे भी हठयोग के अनुसार 'शून्य का ब्रह्मभाव' व्यक्त होता है। भीखा साहब ने 'वह तो सुन निरन्तर सुखुमन निज आतम दरसाई'[5] कहकर आत्मारूपी परब्रह्म का वर्णन ही किया है। दरिया साहब (बिहारी) ने 'सुन में ध्यान समावै'[6] के द्वारा शून्य का ब्रह्मत्व ही प्रकट किया है। इस प्रकार निर्गुण काव्य में शून्य ब्रह्म समादृत है। उपर्युक्त पंक्तियों से भलीभाँति प्रमाणित होता है कि शून्य ब्रह्म अभावात्मक नहीं है, वह सतरूपी आत्मब्रह्म या परब्रह्म है।

संत काव्य की ब्रह्म भावना उपनिषदों के सर्वभूतात्म या सर्वात्मवाद के द्वारा भी व्यक्त हुई है। ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है। वह चराचर सृष्टि के अणु परमाणुओं में सतत् सर्वत्र विद्यमान है। कबीर ने 'खालिक खलक खलक में खालिक सब घट रह्यो समाई'[7] के द्वारा ब्रह्म का सर्वभूतात्मवाद ही प्रकट किया है। दादू ने परब्रह्म को सर्वव्यापक कहा है—'पीव पूर में रमि रह्या व्यापक सब ही ठौर।'[8] सुन्दरदास ने एक अखण्डित आत्म तत्त्व को सर्वत्र व्याप्त कहा है—'व्यापित व्यापिक व्यापि हु व्यापक आतम एक अखण्डित

---

१ दादू दयाल की बानी प्रथम भाग पृ ५८

२. बहु रूपातीत सु शून्य ध्यान।
कछु रूप न रेख न हुँ निदान॥
यहि शून्य ध्यान सम और नाहि।
सतस्व ध्यान सब ध्यान माहि॥
—सुन्दर ग्रन्थावली प्रथम खण्ड पृ० ५४-५५

३ है शून्याकार सु ब्रह्म भासु।
दरसु विधि पूरणा अति अभासु॥
—सुन्दर ग्रन्थावली, प्रथम खण्ड पृ० ५४ ५५

४ धर्मदास की शब्दावली पृ १३

५. संत बानी संग्रह प्रथम भाग पृ २११

६ दरिया साहब की शब्दावली, पृ० ४०

७ कबीर ग्रन्थावली पृ १ ४

८ दादू दयाल की बानी, प्रथम भाग पृ १२

जानी ।[1] धर्मदास ने ब्रह्म को सर्वत्र बताते हुए कहा है—'कह चौरासी जीव जन्तु में सब घट एकै रमिता'[2] दरिया साहब ने 'सब घट व्यापक एकै रामा'[3] 'एक ब्रह्म सकल घट सोई'[4] के द्वारा सर्वत्र ब्रह्म का वर्णन ही किया है। वस्तुतः सर्वत्ववाद निर्गुण काव्य का विशिष्ट सिद्धांत है क्योंकि इसी के आधार पर सन्तों ने मनुष्यों में समानता का सिद्धान्त प्रचारित किया एवं भेदत्व के विरुद्ध अभेदत्व की प्रतिष्ठा की।

उपर्युक्त पंक्तियों में निर्गुण सम्प्रदाय में ब्रह्म भावना का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया। इससे यह ज्ञात होता है कि संत-काव्य में निर्गुण निरुपाधि एवं निर्विशेष परब्रह्म को ही ब्रह्म का श्रेष्ठ स्वरूप प्रतिपादित किया गया है। निर्गुण निराकार निर्विशेष एवं अव्यक्त परब्रह्म ही सन्त-काव्य का प्रमुख प्रतिपाद्य है। भक्ति के सम्बन्ध में ब्रह्म अवश्य सगुण हो जाता है और कबीर आदि संत कवियों की रचनाओं में सगुण किन्तु अव्यक्त ब्रह्म का वर्णन उपलब्ध भी है।[5] पर वह सन्तों का प्रमुख प्रतिपाद्य नहीं है। उनका प्रमुख प्रतिपाद्य परब्रह्म का निर्गुण निर्लेप निरुपाधि निर्विशेष एवं निराकार स्वरूप है। उनकी ब्रह्म भावना अव्यक्त ब्रह्म के उपर्युक्त स्वरूप के प्रतिपादन में ही प्रयुक्त हुई है और उसीको परमाराध्य मानती है।

माया

निर्गुण काव्य में 'माया' का वर्णन ब्रह्म की अधीनस्थ शक्ति के रूप में किया गया है। ब्रह्म की सृष्टि सम्बन्धी धारणा को व्यक्त करते हुए कबीर ने कहा है कि अविगत ब्रह्म ने त्रिगुणात्मक माया का विस्तार करके उसके आवरण में स्वयं को छिपा रखा है।[6] इससे यह प्रमाणित होता है कि मूलकर्ता ब्रह्म है माया उसकी अधीनस्थ शक्ति है। इसी दृष्टि से सन्त काव्य में 'तू माया रघुनाथ की खेलन चली अहेरै' उक्त

१ सुन्दर ग्रन्थावली द्वितीय खण्ड पृ ६६२
२ धर्मदास की शब्दावली पृ ७१
३ दरिया सागर, पृ ३
४ दरिया सागर, पृ १
५ कबीर की विचारधारा पृ १८४
६ सत रज तम थैं कीन्ही माया। चारि खानि बिस्तार उपाया ॥
सत रज तम थैं कीन्ही माया। आपण मांझै आप छिपाया ॥
तै तौ आहि अनन्द सरूपा। गुण पल्लव बिस्तार अनूपा ॥
—कबीर ग्रन्थावली पृ २२२ एवं २२८
७ कबीर ग्रन्थावली पृ १५१

तामस गाजिस तीन्यू, ये सब तेरी माया तथा रजगुण तमगुण सतगुण कहिये यह तेरी सब माया'[1] कहा गया है। इससे भी माया भगवान की शक्ति सिद्ध होती है वस्तुत माया और मायी का नित्य सम्बन्ध है। वे एक दूसरे से पृथक नहीं है। इसी भाव को व्यक्त करते हुए सन्त धर्मदास ने कहा है कि सृष्टि तो माया और ब्रह्म का समान विलास है। गुणातीत अखण्ड परब्रह्म ने अपनी इच्छा आनन्द अथवा लीला के प्रयोजन से शक्तिरूपा माया को प्रकट किया है।[3] मूलरूप मे माया ब्रह्म की शक्ति है किन्तु स्थूल-सृष्टि काल मे वह ब्रह्म पर सृष्टि का मायिक आवरण डाल देती है। इससे मूल तत्त्व छिप जाता है और वह प्रतिभासित होने लगता है कि माया ही सब कुछ है। इस प्रकार जीवात्मा माया के पाश मे बँध कर ब्रह्म को विस्मृत कर बैठता है। कबीर ने कहा है कि जीव तो माया मे विस्मृत है, वह उसके पति अर्थात् ब्रह्म का ज्ञान नहीं रखता।[4] माया की ब्रह्माच्छादन प्रवृत्ति या अध्यारोप के कारण ही कबीर ने उसे पापिनी कहा है क्योंकि माया रूपात्मक दृश्यसृष्टि के आकर्षणों से खींच कर वह जीव को ब्रह्मोन्मुख नहीं होने देती है।[5] दरिया साहब ने भी माया का वर्णन करते समय यही कहा है कि नामानामरूपात्मक माया के जाल में फँस कर जीव ब्रह्म को विस्मृत कर बैठा है।[6]

गीता सांख्य एवं नाथ-सम्प्रदाय की माया की भाँति ही निर्गुण-सम्प्रदाय की माया भी त्रिगुणात्मक है। कबीर ने 'सत रज तम से कीन्हीं माया'[7] 'रजगुण तमगुण

---

१ कबीर ग्रन्थावली पृ १२२
२ कबीर ग्रन्थावली पृ २०२
३ जग मे खेल खेलत होरी।
माया ब्रह्म विलास करत हैं एक से एक बरजोरी।
निर्गुण रूप अखण्ड अखण्डित ता मे गुन बिलरोरी।
माया शक्ति आनन्द कियो है, सबहि मे अकल शरीरी।
—धर्मदास की शब्दावली पृ ११
४ तै तो माया मोह भुलाना, खसम राम को चिन्हु न जाना॥
—कबीर ग्रन्थावली पृ ११८
५ कबीर माया पापणी हरि सूं करे हराम।
मुख कडियाली कुमति की कहण न देई राम॥
—कबीर ग्रन्थावली पृ ३२
प्रगन्न राम सबक बौराना। माया फन्द सब रहे भमाना॥
—दरियासागर, पृ १
७ कबीर ग्रन्थावली पृ २२८ —

तमगुण कहिये ये सब तेरी माया   इत्यादि के द्वारा माया को त्रिगुणात्मक कहा है।[1] 'ज्ञान दीप' मे दरिया साहब ने भी माया को त्रिगुणात्मक बताया है।[2] माया ने त्रिगुण रूप ब्रह्मा विष्णु एवं महेश को उत्पन्न किया है।[3] दरिया साहब ने भी ज्योति या माया से ब्रह्मा विष्णु एवं महेश की उत्पत्ति कही है।[4] वस्तुत माया के तीन गुणों की अभिव्यक्ति रूप त्रिदेव ही हैं। त्रिगुणात्मक एवं त्रिगुणप्रसवा माया त्रिगुण के द्वारा जीव को बाँधती है। 'बीजक' मे कबीर ने कहा है कि महाठगिनी माया त्रिगुण की फाँस लिए घूम रही है।[5] धर्मदास ने भी कहा है कि माया जीव को अपने जाल मे फँसाने के लिए त्रिगुण के फाँस का फन्दा किये हुए है जिसमे फँसकर जीव भवसागर मे कष्ट पाता है।[6] इस प्रकार सत काव्य मे माया का प्रमुख उद्देश्य जीव का बन्धन है। इस बन्धन से मुक्ति पाने के लिए माया त्याज्य है। इसीलिए माया की सत काव्य मे निन्दा की गई है एवं उसे अकाम्य निर्दिष्ट किया गया है।

नाथ-सम्प्रदाय की भाँति निर्गुण काव्य मे माया का वर्णन 'बेली' के रूप मे किया गया है। कबीर ने मायारूपी बेल का वर्णन करते हुए कहा है कि त्रिगुणात्मक मायारूपी बेल अवर्णनीय है। यदि इसे दूर काटना चाहो तो यह और भी अधिक अंकुरित करती है किन्तु ब्रह्मज्ञान रूपी जल से सींचने पर कुम्हला जाती है।[7] मायारूपी वृक्ष भी अद्भुत है, इसको समूल नष्ट करने से परमार्थ रूपी फल प्राप्त होता है।[8] यह माया-

---

१ कबीर ग्रन्थावली पृ २७२

२ सत कवि दरिया पृ ११९

३ रज गुन ब्रह्मा तम गुन सकर सत गुन हरि है सोई।
—कबीर ग्रन्थावली पृ० १ ९

४ तीन मध है ज्योति तो ब्रह्मा बिस्नु महेश।
—दरियासागर, पृ ९

५. माया महाठगिनि हम जानी।
त्रिगुनी फाँस लिये कर डोलै बोलै मधुरी बानी।
—बीजक शब्द २

६ निर्गुन फाँस का फन्दा माया पड जाल मे।
भव सागर के बीच महा जंजाल मे॥
—धर्मदास की शब्दावली पृ २१

७ जो काटौ तो डहडही सींचौ तो कुमिलाइ।
इस गुणवन्ती बेलि का कुछ गुण कह्या न जाइ॥
—कबीर ग्रन्थावली पृ ८९

८ बाड़ि हारी का बिरख यों जड़ काट्यां फल होइ॥
—कबीर ग्रन्थावली पृ ८९

वेली बिना ब्याई बाँझ खरगोश के सींग एवं बन्ध्या के पुत्र की भाँति अस्तित्वहीन है।[1] सच तो यह है कि मायारूपी बेल कड़वी है उसका फल भी कड़वा है, इस बेल से वियुक्त होने पर ही साधक मुक्त होता है।[2] बिहार के संत दरियासाहब ने भी माया को एक विषैली लता कहा है जो कि काया-द्रुम से लिपटी है।[3] वस्तुतः बेली रूप में भी माया को असार एवं अकाम्य निर्दिष्ट किया गया है और इसके समूल उन्मूलन को परमार्थ कहा गया है।

निर्गुण काव्य के अनुसार माया की प्रभुता असीम है। वह सर्वत्र व्याप्त है। उसने त्रैलोक्य को अपने आधीन कर रखा है। उसे कोई नष्ट नहीं कर सका है।[4] ब्राह्मण के यहाँ ब्राह्मणी योगी के यहाँ योगिनी वेश के निकट तुर्कनी होते हुए भी वह निःसंग है।[5] वह निर्गुण भी है, सगुण भी है।[6] माया बड़ी शक्तिशालिनी है। ब्रह्मा विष्णु, महेश राम कृष्ण गणपति शेष वशिष्ठ, मार्कण्डेय शुकदेव सनकादि ऋषि संत पीर, फकीर, योगी और यति भी इसके स्पर्श मात्र से नहीं बचे।[7] इसने त्रैलोक्य को तृष्णा की ज्वाला में जला रखा है। इसकी ज्वालाएँ दिग्-दिगन्त व्यापी हैं उनसे निस्तार पाना कठिन है।[8] माया अगम अनन्त अपार है, उसका जाल असीम है।[9]

---

१ कामणि बेलि अकासि फल अणब्यावर का दूध ।।
ससा सींग की धूनहड़ी रमैं बाँझ का पूत ।।
—कबीर ग्रन्थावली पृ ८६

२ कबीर कड़ई बेलड़ी, कड़वा ही फल होइ।
साध नाम तब पाइये जे बेलि बिछोहा होइ ।।
—कबीर ग्रन्थावली पृ ८६

३ संत कवि दरिया पृ ११७-११८

४ तीनी कुपर पै रही समाई।
तीन लोक जीत्या माया किनहू न खाई ।।
—कबीर ग्रन्थावली पृ १११

५ ब्राह्मण के ब्रह्मनेरी कहियौं जोगी के घर चेली।
कलमा पढ़ि पढ़ि भई तुरकनी अजहू फिरौं अकेली ।।
—कबीर ग्रन्थावली पृ १११

६ निरगुण सगुण नारी संसारि पियारी।
—कबीर ग्रन्थावली पृ १११

७ सन्त कवि दरिया पृ ११८।

८ सन्त कवि दरिया पृ ११९।

९ सन्त कवि दरिया पृ ११९।

माया की उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त निर्गुण काव्य में माया को मिथ्या[1] कहा गया है। निस्सार एवं विनाशशील होने के कारण ही माया मिथ्या है। स्त्री रूप में वह नागिनी है,[2] क्योंकि पुरुष की शक्ति नष्ट करके उसे नाशाधीन करती है। वह निर्दय है।[3] देखने में आकर्षक है, किन्तु सारहीन है।[4] माया अमर है।[5] खाने में मीठी है पर प्रभाव में काल है।[6] माया ही कर्म[7] एवं काम क्रोध लोभ मोह और तृष्णा है।[8] कबीर ने उसे डाइन कहा है,[9] पिशाचिनी, डाकिनी एवं शाकिनी कहा है। वस्तुतः माया दुःख रूपा है। संतों की दृष्टि में वह त्याज्य है।

जीवात्मा

आत्मविचार निर्गुण काव्य का मुख्य प्रतिपाद्य है। आत्मा के मुक्त एवं बद्ध रूपों का निर्गुण काव्य में समान रूप से वर्णन उपलब्ध है। जीवात्मा-स्वरूप विवेचन में निर्गुण कवियों ने मुख्यतः निम्नलिखित दो भावनाओं को व्यक्त किया है —

१ जीव ब्रह्म है।

२ जीव ब्रह्म का अंश है।

कबीर, दादू, सुन्दरदास, धर्मदास, दरिया साहब और मलूकदास ने यह प्रतिपादित किया है कि जीव और ब्रह्म का भेद तो उपाधिकृत एवं व्यावहारिक है परमार्थतः जीव और ब्रह्म एक ही हैं। कबीर आदि अद्वैती विचारधारा के प्रतिपादक संतों के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के भीतर ब्रह्मतत्त्व सम्पूर्ण रूप से विद्यमान है। इसका अनुभव तभी होता है जब मनुष्य संशयरहित विशुद्ध ज्ञान की भूमिका में प्रवेश करता है। सुन्दरदास ने कहा है कि संशयरहित ज्ञान दशा में जीव और ब्रह्म का अभेद प्रकट हो जाता है।

---

१ कबीर ग्रन्थावली पृ० १५८।

२. कबीर ग्रन्थावली पृ० ११२।

३ धर्मदास की शब्दावली पृ० ४६।

४ धर्मदास की शब्दावली पृ० ८२।

५. धर्मदास की शब्दावली पृ० ८२।

६ कबीर ग्रन्थावली पृ० १५६।

७ दरिया सागर, पृ० १६।

८ दरिया साहब की शब्दावली पृ० ४१।

९. कबीर ग्रन्थावली पृ० १५८।

१० कबीर ग्रन्थावली पृ० १२।

११ दूर किया संदेह सब जीव ब्रह्म नहीं भिन्न।

—सन्तबानी संग्रह प्रथम भाग, पृ० १०७

अपने वास्तविक स्वरूप को अज्ञानवश विस्मृत कर बैठने के कारण जीव अपने को ब्रह्म से भिन्न समझता है। अज्ञान का कारण उसका देहाध्यास है। जब जीव पञ्चभूतात्मक नश्वर शरीर में ही उलझ जाता है तब वह अपने यथार्थ स्वरूप को भूल जाता है और जब वह नाम रूप के दृश्य आवरणों को भेद कर सूक्ष्मातिसूक्ष्म अन्तरतम में प्रवेश करता है तब उसे ज्ञात होता है कि वह तो वस्तुतः एकमात्र अविनाशी तत्व है। इसी को ध्यान में रखकर कबीर ने कहा है कि अज्ञान के कारण जीव में भेद ज्ञात होता है। द्वैतभाव अज्ञानकृत है किन्तु ज्ञानदशा में जीव और ब्रह्म का अभेद ही प्रमाणित होता है। जीव की यही आत्मस्वरूप का एकमात्र सद् तत्व में प्रतिष्ठा है। जो यह समझते हैं कि जीव और ब्रह्म की पृथक सत्ताएँ हैं वे स्थूल बुद्धि व्यक्ति अज्ञानी हैं।[२]

जीवात्मा की नित्यस्वरूप स्थिति की अभिव्यक्ति के निमित्त कबीर ने जीवात्मा का परमात्मा में घुलमिलकर एकाकार होना निर्दिष्ट किया है।[३] इस मिलन में भेद ज्ञान अस्त भी नहीं रहता। कबीर ने इस मिलन में आत्मा को परमात्मा से कम महत्व नहीं दिया है। इसीलिए कबीर ने बूँद और समुद्र का परस्पर पूर्ण मिलन ही कहा है। वस्तुतः अद्वैतवाद के अनुसार आत्मा तो परमात्मा ही है। उसमें छोटे और बड़े का भेद उपाधि जन्य है। अन्यथा वह एकरूप सम्पूर्ण अद्वैत तत्व है। माया से आबद्ध आत्मा ही जीव के नाम से प्रसिद्ध है।[४] सुन्दरदास को यौगिक अद्वैत का शास्त्रीय ज्ञान था। अद्वैत आत्म तत्व के सम्बन्ध में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि अज्ञान अविवेक और भ्रम के कारण परमात्मा और आत्मा भिन्न प्रतीत होते हैं, गुरु ज्ञान से उनकी पारमार्थिक अद्वैतता प्रकट हो जाती है।[५] सुन्दरदास के गुरु दादूदयाल ने कहा है कि आत्मानन्द की दशा में सहज

---

१ कबीर सुपनैं रैनि कै पारस जीय मे छेक।
जे सोऊँ तो दोइ जणा जे जागूँ तौ एक॥
—कबीर ग्रन्थावली पृ २१

२ कहै कबीर तरक दुइ साधै तिनकी मति है मोटी।
—कबीर ग्रन्थावली पृ १ ५

३ हेरत हेरत हे सखी रह्या कबीर हिराइ।
बूँद समानी समुद में सो कत हेरी जाइ॥
हेरत हेरत हे सखी रह्या कबीर हिराइ।
समुद समाना बूँद में सो कत हेरया जाइ॥
—कबीर ग्रन्थावली पृ १४

४ आपा को राजा कहै माया के आधीन।
—कबीर ग्रन्थावली पृ १०

५ परमातम अरु आतमा उरझ्या यह अविवेक।
सुन्दर भ्रम सें दोय थे सतगुरु कीये एक॥
—संत बानी संग्रह, द्वितीय भाग पृ० १ ७

रूप परब्रह्म को छोड़कर और कहीं कोई दृष्टिगत ही नहीं होता।[1] संत धर्मदास ने भी समस्त जीवों में तत्स्वरूप एकमात्र परब्रह्म को ही माना है।[2] बद्ध जीव 'काग' है और मुक्त जीव 'हंस' है। गुरुज्ञान से जीव ही पारसमणि रूप आत्मा हो जाता है।[3] बिहार के संत दरिया साहब ने जीव और ब्रह्म का भेद उपाधिकृत माना है और कहा है कि अद्वैत तत्त्वस्वरूप ब्रह्म ही जीव कहलाता है।[4] जीव के अनुसंधान (ज्ञान) से ही ब्रह्म प्राप्त हो जाता है,[5] अर्थात् ज्ञानावस्था में जीव ही ब्रह्म हो जाता है। मलूकदास ने 'साहब मिलि साहब भये'[6] के द्वारा जीवात्मा की अद्वैतता का प्रतिपादन किया है। इससे प्रकट हो जाता है कि निर्गुण काव्य में मुख्यतः जीव और ब्रह्म में भेद नहीं माना गया है। सब मुख्य संत कवि ये मानते हैं कि अज्ञान-बन्धन के कारण पञ्चभूतात्मक पिंड में जो जीव कहलाता है वह परमार्थतः ब्रह्म ही है। ज्ञान दशा में यह जीव अपने शुद्ध बुद्ध आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित होता है।

निर्गुण काव्य में जीव ब्रह्म के सम्बन्ध को 'जीव ब्रह्म का अंश है' द्वारा भी व्यक्त किया गया है। प्राणनाथ, बाबालाल इत्यादि संत यह तो मानते हैं कि जीवात्मा का अंततः परमात्मा में निवास है तथापि वे यह नहीं मानते कि वह पूर्ण ब्रह्म है। उनके अनुसार जीवात्मा भी परमात्मा है अवश्य किन्तु पूर्ण ब्रह्म नहीं है। वस्तुतः वह ब्रह्म न होकर ब्रह्म का अंश है। ब्रह्म अंशी है और जीवात्मा अंश। प्राणनाथ ने कहा है कि सृष्टि अखण्ड आनन्दमय प्रेमस्वरूप परमात्मा का एक अंशमात्र है।[7] जीव और ब्रह्म के

---

१ ब्रह्मलीन आनन्द में सहज रूप सब ठौर।
दादू देखै एक को दूजा नाहीं और॥
—दादू दयाल की बानी प्रथम भाग पृ २४

२ सत चौरासी जीव जन्तु में सब घट रहे समाना।
—धर्मदास की शब्दावली पृ ७१

३ कागा बरन मिटाइ के हंसा करि लीन्हा।
सतगुरु शब्द सुनाइ के पारस करि दीन्हा॥
—धर्मदास की शब्दावली पृ ९८

४ संग ब्रह्म जीव कहँ भेदा। अद्वैत ब्रह्म आपुही ऐसा॥
—दरिया सागर, पृ २१

५ जीव ब्रह्म का यही उपाई खोजो जीव ब्रह्म मिलि जाई॥
—दरिया सागर, पृ २१

६ संत बानी संग्रह द्वितीय भाग पृ १०४

७ अब कहूं इस्क बात इस्क सब्दातीत साख्यात।
ब्रह्म सृष्टि ब्रह्म एक अंग ये सदा अनन्द अतिरंग॥
—ब्रह्म बानी पृ० १

अंशांशि सम्बन्ध को संत बाबालाल ने भली भाँति प्रकट किया है। उनका कथन है कि जीवात्मा और परमात्मा मूलरूप मे एक समान है और जीवात्मा उनका एक अंश है। ब्रह्म और जीव के मध्य वही सम्बन्ध है जो बिन्दु और सिन्धु मे। जब बिन्दु सिंधु मे मिल जाता है तो वह भी सिंधु हो जाता है। इसी प्रकार जब जीव ब्रह्म मे मिल जाता है, तो वह भी ब्रह्म हो जाता है। उस अवस्था मे जीव और ब्रह्म मे कोई अन्तर नही रहता। इससे यह प्रकट होता है कि जीव ब्रह्म के अंशांशि सम्बन्ध के मूल मे यह भावना है कि जिस प्रकार सागर की एक बूंद मे सागर के सब गुण विद्यमान है उसी प्रकार जीवात्मा मे भी परमात्मा के समस्त गुण विद्यमान है, किन्तु कम मात्रा में। पर जब बिन्दु रूप जीव सिन्धु रूप ब्रह्म मे मिल जाता है तब वह ब्रह्म रूप ही हो जाता है।

निर्गुण काव्य मे जीव का बन्धन अज्ञान या अविद्या निर्दिष्ट है। चैतन्य आत्मतत्व जब मायाकृत पञ्चभूतात्मक शरीर मे कर्मानुसार बँधता है तब वह जीव की उपाधि प्राप्त करता है। कबीर ने कहा है कि त्रिगुणात्मक माया ने पञ्चभूतात्मक शरीर और चार योनियों में जीव का बन्धन किया है जिससे जीव शुभ और अशुभ कर्म करता है और मान एवं अभिमान मे पड़ता है।[२] धर्मदास ने कहा है कि ब्रह्म रूप त्याग कर जीव आवागमन म पड़ता है। वह मायाकृत बन्धन के कारण रात्रि दिवस संशय या भ्रम म पड़ता है और काम क्रोध एवं मद से घिरकर योनि पूर्ण करता है। संत दरिया साहब ने कहा है कि अद्वैत ब्रह्म त्रिगुणात्मक माया के कारण शरीर बन्धन में है वह पुन पुन आवागमन के चक्र मे पड़ता है।[४] इसी ग्रन्थ मे अन्यत्र भी उन्होंने मायाकृत पञ्चभूतात्मक पिंड के बन्धन (बन्धन) मे जीव का पड़ना निर्दिष्ट किया है।[५] दरिया सागर मे भी

---

१ रिलीजियस् सेक्ट्स् आफ दि हिन्दूज पृ १२

२ सत रज तम थै कीन्ही माया चारि खानि बिस्तार उपाया।
पंच तत्त के कीन्ह बंधान पाप पुन्य मान अभिमान॥

—कबीर ग्रन्थावली पृ २२९

३ प्रभुपद भिन्न भयो मैं जब से देह धरे बहुतेरो।
निस बासर मोहिं संसय व्यापै काम क्रोध मद घेरो॥

—धर्मदास की शब्दावली पृ २

४ अद्वैत ब्रह्म सकल घट व्यापक तिरगुन मे लपटाना।
आवै जाय उपजि फिर बिनसै आरि मरि कहुँ समाना॥

—दरिया साहब की शब्दावली पृ ४६

५. पाँच तत्त की कोठरी ता मैं जाल जंजाल।
जीव तहाँ वासा करै, निपट नजीके काल॥

—दरिया साहब की शब्दावली पृ ५२

'कनक कामिनी के फंद में अरुझि अरुझि जीव जाइहैं'[1] एवं 'मूल करहि मया जंजाला'[2] के द्वारा उन्होंने जीव के बन्धन का कारण माया को ही बतलाया है। सतगुरु कृपा एवं ज्ञान[3] के द्वारा जब जीव अविद्याजन्य मिथ्या प्रतीतियों के तिमिरजाल को छिन्न भिन्न करता है तब बन्धनमुक्त होकर वह आत्मरूप में स्थित होता है। यही जीवात्मा की निजस्वरूप स्थिति है। संत काव्य में इसी को जीव की मुक्ति (जीवन्मुक्ति) निर्धारित किया गया है।

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि निर्गुन-काव्य में जीव तत्त्व का विवेचन जीवात्मा सम्बन्धी परम्परागत भावना के अनुसार किया गया है। परम्परागत भावना के अनुसार ही संत कवियों ने जीवात्मा को ब्रह्म अथवा ब्रह्म का अंश कहा है और अज्ञान अविद्या अथवा माया से उसके बन्धन तथा ज्ञान से मोक्ष का प्रतिपादन किया है।

जगत्

निर्गुन सम्प्रदाय के सन्तों की जगत् भावना भी परम्परागत जगत् भावना से भिन्न नहीं है। वस्तुतः निर्गुन काव्य में उपनिषद् एवं गीता के अनुसार ही जगत् की उत्पत्ति ब्रह्म से मानी गई है। सब निर्गुन मार्गी सन्त जगत् का मूलकारण ब्रह्म को मानते हैं। कबीर ने 'ओंकारे जग ऊपजै'[5] के द्वारा अक्षर ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति निर्दिष्ट की है। दादू दयाल ने भी ब्रह्म के प्रथम विवर्त प्रणव ॐ अथवा शब्द ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति बताते हुये कहा है कि अक्षर ब्रह्म से पञ्चभूतों की उत्पत्ति हुई जिसने नानाधर्मी जगत् ने व्यक्त रूप धारण किया।[6] सुन्दरदास ने यहाँ सांख्य के अनुसार प्रकृति से महत्तत्त्व एवं अहंकार इत्यादि की क्रमिक उत्पत्ति का वर्णन किया है वहीं

---

१ दरियासागर, पृ १९
२ दरियासागर, पृ १९
३ संत बानी संग्रह द्वितीय भाग पृ १०
४ संत बानी संग्रह द्वितीय भाग पृ २११
५ कबीर ग्रन्थावली पृ ११६
६ पहली कीया आप थैं उतपति ओंकार।
ओंकार थैं ऊपजे पंच तत्त आकार।।
पंच तत्त थैं घट भया बहु विधि सब विस्तार।
दादू घट थैं ऊपजे मैं तैं बरण बिचार।।
—संत बानी संग्रह भाग १ पृ ७७-७८

उन्होंने ब्रह्म से पुरुष एवं प्रकृति प्रकट भईं के द्वारा जगत् का मूलभूत कारण ब्रह्म को ही माना है। प्रकृति ब्रह्म के अधिष्ठान में ही रचना करती है स्वतन्त्ररूपेण नहीं। बिहार के दरिया साहब ने कहा है कि नानारूप सृष्टि का मूल तत्व एक ब्रह्म ही है।[2] अन्यत्र दरिया साहब ने स्पष्ट शब्दों में पारब्रह्म से ही जगत् की रचना कही है।[3] इससे स्पष्ट हो जाता है कि सन्त कवि जगत् की उत्पत्ति ब्रह्म से मानते हैं, अर्थात् जगत् का कारणभूत तत्व ब्रह्म है।

ब्रह्म से जिस क्रम में जगत् उत्तरोत्तर सूक्ष्म से स्थूल होता हुआ सृष्टि में आता है, उसका वर्णन हमने सृष्टि क्रम में किया है। यहाँ उसकी पुनरावृत्ति आवश्यक नहीं है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि ब्रह्म से पंचभूतों की उत्पत्ति होती है, जिसका परिणाम व्यक्त जगत् है। यह पंचभूतात्मक जगत ब्रह्म से उत्पन्न होकर उसी में लय होता है। कबीर ने जगत् के लय क्रम का वर्णन करते हुए कहा है कि पृथ्वी जल अग्नि वायु और आकाश क्रम से अपने कारण में विलीन हो जाते हैं और अन्त में केवल ब्रह्म तत्व ही रह जाता है।[4] बिहार के दरिया साहब ने कहा है कि परब्रह्म से नानारूपमयी जगत् प्रकट होकर अन्तकाल में पुनः उस एकमात्र कारणभूत तत्व में मिल जाता है।[5] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि निर्गुण काव्य में ब्रह्म से ही जगत् की उत्पत्ति मानी गई है और उसी में जगत् का लय होता है।

जगत् ब्रह्म की रचना है अतएव उसे सत् स्वरूप होना चाहिए। पर सन्त कवियों

---

१ सुन्दर ग्रन्थावली द्वितीय खण्ड पृ १९।

२ ब्रह्म एक से होत है नाना रूप सब मूल।

—दरियासागर, पृ० ८

३ एहि ब्रह्म सकल कर साईं। ताहि बिरहहु सतगति होई॥
जिन्हि रचल यह सकल जहाना। जाहि अन्त सत करवाना॥

—दरियासागर पृ १

४ कबीर की विचारधारा पृ २११।

५ जानौ तौं जगत की सृष्टि ताहि बिस्तार।
अन्तहु फिरि एक है ताहि सोजु निजु सार॥

—दरियासागर पृ २

ने जगत् को निरन्तर मिथ्या और असार कहा है। कबीर [1] दादू,[2] सुन्दरदास[3] इत्यादि सन्तों ने जगत् को असार, मायिक और मिथ्या कहा है। वस्तुतः इसमें कोई विरोध नहीं है। विशिष्ट अर्थ में जगत् सत्य भी है और मिथ्या भी है। ब्रह्मकृत होने के कारण जगत् सत्य है, किन्तु नित्य परिवर्तन एवं विनाश को प्राप्त होने वाले नाम रूप और कर्म अर्थात् माया का समूह होने के कारण अनित्य अर्थात् मिथ्या है। यह जगत् नानात्ववर्ती नाम रूप है। इसमें नित्य परिवर्तन होते हैं। स्थिति और विनाश इसका धर्म है। 'नित्य' तत्व के विपरीत यह 'अनित्य' है। इसीलिए यह मिथ्या है। 'सार' तत्व के विपरीत यह असार है। इसीलिए त्याज्य है। नाम रूप एवं कर्म का यह स्थूल जगत् स्थूल होकर मायिक आवरण में ब्रह्म का अध्यारोप करता है। इसीलिए नित्य एवं सारभूत तत्व का आच्छादन करने के कारण जगत् को अनित्य एवं असार कह कर सन्तों ने त्याज्य निर्दिष्ट किया है। सन्त-काव्य में जहाँ भी जगत् को मिथ्या आदि कहा गया है, वहाँ उसका अनस्तित्व नहीं प्रकट किया गया है अपितु उसके विनाशशील एवं अनित्य नाम रूप की निरर्थकता प्रकट की है। इस नाम रूपात्मक अनित्य जगत से निरपेक्ष होकर ही इसके कारणभूत मूल तत्व को प्राप्त किया जा सकता है।

निर्गुण काव्य में कठोपनिषद् एवं गीता की भाँति जगत् भावना एक ऐसे वृक्ष के रूप में व्यक्त की गई है जो ऊर्ध्वमूल अधः शाखा है। कबीर ने वृक्ष रूप जगत् का वर्णन करते हुए कहा है कि इसकी जड़ ऊपर है और फल-फूल या विस्तार नीचे की ओर है।[4] संसार वृक्ष के इस रूपक से ब्रह्म और संसार का सम्बन्ध स्पष्ट है। इन में ब्रह्म को जगत् का कारण व्यक्त किया गया है। बताया गया है कि ब्रह्म ही मूलरूप जगत् का

---

१ भी ऐसा संसार है जैसा सेंबल फूल।
  दिन दस के व्यौहार को झूठे रंगि न भूल॥
  —कबीर ग्रन्थावली पृ २१

२ दादू माया बिस्तरी परम तत्त यह नाहिं॥
  —दादू दयाल की बानी प्रथम भाग, पृ २०

३ ब्रह्म ते पुरुष अरु प्रकृति प्रगट भई,
  प्रकृति ते महत्तत्व अहंकार है।
  ऐसे अनुक्रम ते शिष्यन सौं कहत सुन्दर,
  यह सकल मिथ्या भ्रमजार है॥
  —सुन्दर ग्रन्थावली द्वितीय खण्ड पृ ६९

४ तलि करि साखा ऊपरि करि मूल। बहुत भाँति जड़ लागै फूल॥
  —कबीर ग्रन्थावली पृ १२

मूल है। सुन्दरदास ने भी वृक्षरूप जगत् की परम्परागत भावना को व्यक्त किया है। संत धर्मदास ने 'तरे भई है डार ऊपर भयो मूल'[2] द्वारा प्रायः सामान्य ऊर्ध्वमूल जगत् वृक्ष का वर्णन ही किया है। संत दरिया साहब (बिहार) ने 'मर्लीमूल ओर पुरुष हहिं'[3] के द्वारा वृक्षरूप जगत् के मूल में ब्रह्म या पुरुष को ही बताया है। इस प्रकार निर्गुण काव्य में परम्पराप्राप्त भावना के अनुसार जगत् का वृक्षरूप में वर्णन किया गया है और ब्रह्म ही इसका मूल कारण प्रतिपादित किया गया है।

निर्गुण काव्य की उपर्युक्त जगत् भावना के वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि इसमें जगत् की उत्पत्ति एवं उसका लय स्थान ब्रह्म निर्दिष्ट है। मायारूप के माध्यम से जग वर्ग का परिवर्तनशील अनित्य प्रसार होने के कारण जगत् मिथ्या और अनित्य है। निर्गुण काव्य की यह भावना वेदान्त की परम्परागत जगत् धारणा के अनुकूल है।

सृष्टि क्रम

संत काव्य में सृष्टि विकास क्रम का व्यवस्थित रूप उपलब्ध नहीं होता। कबीर की रचनाओं में भी सृष्टि क्रम का व्यवस्थित वर्णन नहीं प्राप्त होता है। कबीर के सृष्टि सम्बन्धी विच्छिन्न तन्तुओं को क्रमबद्ध करके सृष्टि-क्रम का आभास मात्र मिल सकता है। कबीर ने सृष्टि के पूर्व की स्थिति का वर्णन करते हुए कहा है कि उस समय मात्र एक ही अविगत तत्व विद्यमान था।[4] इसी अविगत तत्व से पञ्चभूतों की उत्पत्ति हुई।[5] बाद में ब्रह्म से ओंकार एवं ओंकार रूपी शब्द ब्रह्म से पंचतत्व की उत्पत्ति

---

१ सुन्दर दर्शन पृ २२१

२ धर्मदास की शब्दावली पृ १८

३ दरियासागर पृ २०

४ जब नहीं होते पवन नहीं पानी तब नहि होती सृष्टि उपानी।
जब नहीं होते प्यण्ड बासा तब नहि होते धरनि अकासा॥
जब नहीं होते गरभ न मूला तब नहि होते कली न फूला॥
जब नहीं होते सबद न स्वाद तब नहि होते विद्या न बाद॥
जब नहीं होते गुरु न चेला गम अगमे पंथ अकेला॥
अविगत की गति क्या कहूं, जस कर गाँव न नाँव॥
गुन विहून का पेखिये का कर धरिये नाँव॥
—कबीर ग्रन्थावली पृ० २१८-२१९

५ पंच तत अविगत थे उतपनां एकै किया निवासा।
बिछुरे तत फिर सहजि समाना रेख रही नहिं आसा॥
—कबीर ग्रन्थावली पृ १ २

मानी है। सुन्दरदास ने ब्रह्म से पुरुष एवं प्रकृति के उत्पन्न होने की चर्चा की है तथा प्रकृति से क्रमशः महत्तत्व एवं अहंकार की उत्पत्ति निर्दिष्ट की है।[२] वस्तुतः सन्तों का यह सृष्टि क्रम उपनिषद् एवं सांख्य के सृष्टि-क्रम से प्रभावित है। उपनिषदों के अनुसार ही कबीर दादू आदि संत-कवि ब्रह्म को सृष्टि का कारण मानते हुए पंचभूतों की उत्पत्ति कहते हैं। सुन्दरदास ने सांख्य के मतानुसार प्रकृति से महद् एवं अहंकार के उत्पन्न होने का उल्लेख किया है, किन्तु वे सृष्टि का मूल परब्रह्म ही मानते हैं। इस प्रकार निर्गुण मार्गी कवियों का सृष्टि क्रम परम्परानुमोदित सिद्ध होता है।

कबीर के सृष्टि क्रम से कबीर-पंथ का सृष्टि क्रम यथेष्ट भिन्न है। अनुराग सागर में कबीर-पंथी सृष्टि क्रम का विशद् वर्णन किया गया है। 'अनुराग सागर' के सम्पूर्ण सृष्टि क्रम का विवेचन हमारा प्रतिपाद्य नहीं है किन्तु उसके मुख्य तत्वों की रूपरेखा का परिचय प्राप्त करना असंगत न होगा। निम्नांकित पंक्तियों में 'अनुराग सागर' का सृष्टि विधान संक्षेप में वर्णित है।

सृष्टि के पूर्व सत्यपुरुष थे। उन्होंने अभिव्यक्ति की इच्छा की।[४] इससे सत्यपुरुष के सोलह अंश प्रकट हुए।[५] इनके नाम क्रमशः कूर्म ज्ञानी विवेक काल निरंजन सहज संतोष सुरति आनन्द क्षमा नाम जलरंगी अचिन्त्य प्रेम दीनदयाल धैर्य एवं योग संतायन।[६] इनमें से कालनिरञ्जन या धर्मराय ने बहुत समय तक सत्यपुरुष की सेवा की जिससे प्रसन्न होकर सत्यपुरुष ने उसे त्रैलोक्य का राज्य दे दिया।[७] सत्यपुरुष ने

---

१ पहले कीया आप थैं उत्पनी ओंकार।
ओंकार थैं ऊपजै पंच तत्त आकार॥
—संत बानी संग्रह, प्रथम भाग, पृ ७७

२ सुन्दर ग्रन्थावली द्वितीय खण्ड पृ ५९

३ सत्य पुरुष जब गुप्त रहाये। कारन करन नहिं निरमाये॥
—अनुराग सागर, पृ ७

४ इच्छा कीन्ह अंश उपजाये। प्रसन्न देखि हरख बहु पाये॥
—अनुराग सागर पृ ८

५. अनुराग सागर, पृ ८

६ अनुराग सागर, पृ ८

७ धर्मराय जस कीन्ह तमाशा। सो चरित्र भाखो धर्मदासा॥
युग सत्तर सेवा निज लाई। एक पग ठाढ़ पुरुष चितलाई॥
तीनि लोक तब पुरुष ने दीन्हा। देखि सेवकाइ दया अस कीन्हा॥
—अनुराग सागर पृ ९

सृष्टि करने की आज्ञा प्राप्त करके निरंजन ने कूर्म के उदर को विदीर्ण करके रचना की समस्त सामग्री निकाल ली।[२] किन्तु द्वैत या द्वितीय अंश के बिना निरंजन सृष्टि में असमर्थ रहा।[३] सत्यपुरुष ने सजीव सृष्टि के निमित्त तब अष्टांगी कन्या निरञ्जन को प्रदान की।[४] पर स्वभाववश कालनिरंजन उसे खा गया।[५] उसके इस दुष्कृत्य से क्षुब्ध होकर सत्यपुरुष ने उसे सत्यलोक से निकाल दिया।[६] सत्यलोक से स्खलित होते समय निरंजन के पेट से आदिकुमारी अष्टांगी कन्या निकल आई।[७] निरञ्जन ने उसके साथ भोग किया जिससे ब्रह्मा विष्णु एवं महेश उत्पन्न हुए।[८] इसके उपरान्त अविभाज्य सृष्टि क्रम चलने लगा।

'अनुरागसागर' के उपर्युक्त सृष्टि-क्रम की रूपरेखा इस प्रकार निर्धारित की जा सकती है—
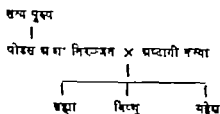
सत्य पुरुष
|
षोडस अंश निरञ्जन × अष्टांगी कन्या
|
ब्रह्मा   विष्णु   महेश

---

१ मानसरोवर ठौर दीन्हो सुन्न देस बसायऊ ॥
करहु रचना जाय तहवां सहज वचन सुनायऊ ॥
—अनुराग सागर, पृ ९

२ अनुराग सागर, पृ १

३ तबै निरञ्जन विनती लावी। कैसे रचना रचूं बनावी ॥
मैं सेवक दुतिया नहिं आनू। पुरुष ध्यान को निज दिन ठानू ॥
—अनुराग सागर, पृ० ११

४ पुरुष भेजा जब भये तब अष्टंगहि दीन्ह हो।
मान सरोवर आहि कहिय बैठ धर्महि ठौर हो ॥
—अनुराग सागर, पृ ११

५. धर्मराय कन्या गहि ग्रासा। काल स्वभाव सुनो धर्मदासा ॥
—अनुराग सागर, पृ १२

६ कहि मुझ सत्कार दीन्हो परेउ लोक तें न्यार सो।
—अनुराग सागर, पृ १३

७ पुनि निरखि कन्या उदर तें अति डरत देखे धरम को।
—अनुराग सागर, पृ १३

८. विषयकार कीन्ही रति तबै भये ब्रह्मा विष्णु महेश हो ॥
—अनुराग सागर, पृ १४

जिस प्रकार उपनिषदों में ब्रह्म के ईक्षण से सृष्टि कही गई है उसी प्रकार 'अनुराग सागर' में भी सत्यपुरुष की इच्छा से सृष्टि का प्रारम्भ बताया गया है। उपनिषदों की भाँति ही कबीर पंथ के उपर्युक्त सृष्टि क्रम का विकास सूक्ष्म से स्थूल की ओर वर्णित है।

इस प्रकार निर्गुण-काव्य में मुख्यतः दो प्रकार का सृष्टि क्रम वर्णित है। प्रथम उपनिषदों की पद्धति पर ब्रह्म से पंचभूतों की उत्पत्ति प्रतिपादित करने वाला, द्वितीय साम्प्रदायिक 'सत मत' के सृष्टि विधान के अनुसार सत्यपुरुष के षोडस पुत्र तथा निरंजन ज्योति की कथा से सम्बन्ध रखने वाला। परवर्ती संत कवियों ने प्रायः सत मत के साम्प्रदायिक सृष्टि-क्रम की चर्चा ही की है। उदाहरण के लिए, बिहार के संत दरिया साहब ने संतों के साम्प्रदायिक सृष्टि क्रम का वर्णन ही किया है।[1] इससे यह सिद्ध होता है कि परवर्ती सन्तों में उपनिषदीय सृष्टि क्रम की अपेक्षा साम्प्रदायिक सृष्टि-क्रम ही अधिक मान्य हुआ।

जीवन्मुक्ति

निर्गुण-सम्प्रदाय के संत-साधक मुक्ति के प्रसंग में जीवन्मुक्ति का प्रस्ताव करते हैं। कबीर ने जीवन्मुक्ति को ही मोक्ष की परमावस्था निर्धारित करते हुए कहा है कि अनुभूति द्वारा सारभूत ब्रह्म तत्त्व का साक्षात्कार करके जीवित अवस्था में ही मुक्त हो जाना चाहिए।[2] जीवन्मुक्ति की भावना को ही कबीर ने 'जीवन मृतक' शब्द द्वारा व्यक्त किया है। जीवित अवस्था में मन की वितृष्णा द्वारा चित्त चांचल्य से वियुक्त साधक जीवन्मुक्त ही है। इसी विचार को प्रकट करते हुए कबीर ने मन के सनातनत्व (अमनी या उन्मनि अवस्था) के द्वारा जीवित अवस्था में ही मृत होने का उल्लेख किया है।[3] उन्होंने अन्यत्र ब्रह्मानुभूति से जीवित अवस्था में ही शून्य रूपी ब्रह्म को प्राप्त करने का उल्लेख किया है[4] और जीवन्मुक्ति द्वारा आवागमन-चक्र से निवृत्ति प्रतिपादित की है।[5]

---

१ सन्त कवि दरिया पृ० ११४-११५।

२ जीवन पावहु मोक्ष दुवारा। अनभौ सबद तत निज सारा॥
—कबीर ग्रन्थावली पृ० [illegible]

३ जब मन उलटि सनातन हूवा तब हम जानाँ जीवन मूवा॥
—कबीर ग्रन्थावली पृ० ९१

४ जन्म मरन का भ्रम गया गोविंद लिव लागी।
जीवत सुंनि समानिया गुर साखी जागी॥
—कबीर ग्रन्थावली पृ० ९८

५. जीवत जन धरि जाइबे ऊँधे मुनि नहीं आवै॥
—कबीर ग्रन्थावली पृ० ११८

कबीर की भाँति ही दादू दयाल भी जीवन्मुक्ति के समर्थक हैं। उन्होंने मृत्यु के उपरान्त मोक्ष प्राप्त करने की धारणा का प्रत्याख्यान 'दादू मूये महिला' दादू जग जीवतें'[1] इत्यादि के द्वारा किया है। उनका विचार है कि मृत्यु के उपरान्त मुक्ति की आशा भ्रम के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वास्तविक मुक्ति तो जीवन्मुक्ति ही है। इसका स्वरूप निर्दिष्ट करते हुए दादू ने कहा है कि जीवित अवस्था में ही गुणातीत होना जीवन्मुक्ति है। यह मुक्ति जीवित अवस्था में कर्मबन्धन विमुक्त होने पर प्राप्त होती है।[4] दादू दयाल की भाँति ही सत चरणदास ने भी 'कर्मरहित अविचल गति' को जीवन्मुक्ति का लक्षण माना है।[5] वे इस सम्बन्ध में अद्वैतावस्था की चर्चा भी करते हैं।[6] उपनिषदों में जीवन्मुक्ति धारणा का स्वरूप निर्दिष्ट करते समय हम लक्ष्य कर चुके हैं कि वहाँ भी जीवन्मुक्ति अवस्था अद्वैतावस्था है। गीता में भी ज्ञान द्वारा पुरुष की ब्राह्मी स्थिति या जीवन्मुक्ति का वर्णन हम इसके पूर्व कर चुके हैं। योग के अन्तर्गत भी कहा गया है कि कर्म-संस्कार के समूल उन्मूलन के अभाव में जीवन्मुक्ति सम्भव नहीं है। यही भावना निर्गुण सन्त-काव्य में भी विद्यमान है।

मन

निर्गुण-काव्य में मन का निरूपण बहुत कुछ नाथपंथी पद्धति पर हुआ है। नाथ-सम्प्रदाय में कहा गया है कि ब्रह्माण्ड में जो निरंजन है पिंड में वही मन है। कबीर ने एक स्थल पर मन के अनुसंधान की चर्चा करते हुए कहा है कि उस मन को मारना चाहिए ध्यान लगाने पर जिस मन (निरंजन) में पिंडी मन समा जाता है। यह

---

१ दादू दयाल की बानी प्रथम भाग पृ २२८।

२ दादू दयाल की बानी प्रथम भाग पृ २३८।

३ दादू दयाल की बानी प्रथम भाग पृ २१८।

दादू जीवत छूटै देह गुण जीवत मुक्ता होइ।
जीवत काटै कर्म सब मुकति कहावै सोइ॥

—दादू दयाल की बानी प्रथम भाग पृ २८७

५ करम उकरना न रह जावै, करम रहित अविचल गति पावै॥

—चरनदास की बानी, प्रथम भाग पृ ३६

६ जब हो एक दूसरा नाहीं, एक मुक्ति की को न माँहीं॥

—चरनदास की बानी प्रथम भाग पृ ?

सम्भव उन्होंने मन में ज्ञानोदय से 'उन्मनि' अवस्था द्वारा प्रकाशरूपी ब्रह्म को पाने की चर्चा की है जिससे निर्विषय मन मुक्त हो जाता है। इससे यह प्रकट होता है कि निर्गुण काव्य तात्विक दृष्टि से ब्रह्माण्ड और पिंड के भेद से मुक्त मन और बद्ध मन का व्यावहारिक भेद तो करता है किन्तु परमार्थतः उन्हें एक ही मानता है। निर्गुण काव्य के अनुसार मन ही बन्धन है और उसकी ब्रह्मोन्मुख परिस्थिति ही मोक्ष है।

उपर्युक्त पंक्तियों में निर्गुण काव्य में मन के तात्विक स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। पर अधिकतर संतों ने मन को परमार्थ बाधक निर्दिष्ट करते हुए उसकी चंचलता, कठोरता, भ्रमोत्पादकता इत्यादि का वर्णन ही किया है। कबीर ने कहा है कि मन की गति अगम्य है,[2] मन अस्थिर है,[3] वह चञ्चल है,[4] संकल्प-विकल्प के आधिक्य से वह 'बौरा' गया है।[5] धर्मदास ने मन की तृष्णा[6] का वर्णन करते हुए कहा है कि वह दुविधा और द्वैत का कारण है।[7] सुन्दरदास ने बड़े विस्तार से मन की गति-विधि का वर्णन किया है। सुन्दरदास के अनुसार मन के भ्रम से जगत् की सत्ता है, मन के भ्रम से ही रज्जु सर्प प्रतीत होती है, मन के भ्रम से मरीचिका जल ज्ञात होती है और मन का भ्रम ही सीप को रजत प्रकट करता है।[8] काम के जागृत होने पर मन निर्लज्ज की भाँति आचरण करता है। लोभ के उत्पन्न होने पर वह उसके आधीन हो जाता है। क्रोध उत्पन्न होने पर मन क्रोधी हो उठता है और मोह की उत्पत्ति पर वह नित्य प्रति घर तक भ्रमता फिरता है।[9] सन्त दरिया साहब (बिहार) ने मन की गति को प्रवाहित जल और पवन से भी द्रुतगामी कहा है, वस्तुतः यह इच्छानुसार प्रत्येक स्थान में पहुँच जाता है। मन संयम उत्पन्न

---

१ मनि मानिक दीपक बरै, उनमुनि गगन प्रकास।
मन मोतिक भर देखि के मेटु जरा मरन जम त्रास॥
—दरियासागर, पृ २६

२ कबीर ग्रन्थावली, पृ ९१

३ कबीर ग्रन्थावली पृ १११

४ कबीर ग्रन्थावली पृ १४६

५ कबीर ग्रन्थावली पृ ११५

६ धर्मदास की शब्दावली पृ ३३

७ धर्मदास की शब्दावली पृ ३६

८ सुन्दरदर्शन पृ २२२-२२३

९ सुन्दर दर्शन पृ २१९

१ पानी पवन है मन वेगा। जहाँ कहौ तहाँ मन देखा॥
—शब्दप्रकाश पृ ८

करता है वही जीव को अज्ञान में डालता है।[२] अन्यत्र उन्होंने कहा है कि मन की अनन्त कलाएं हैं। मन कर्म कर्ता काम कामी वाम वाम इत्यादि सर्वरूपमय है। वस्तुत मन संयम का अगम और अथाह सागर है सतगुरु के उपदेश रूपी जहाज के द्वारा ही इसे पार किया जा सकता है।[३]

इस प्रकार निर्गुण काव्य में मन जीव के परमार्थ में बाधक शक्ति के रूप में वर्णित है। इसकी चंचल और अस्थिर प्रवृत्ति को अचंचल और स्थिर करके साधक सिद्ध हो जाता है।

काल

निर्गुण-काव्य मे काल का वर्णन विस्तार से किया गया है। कदाचित् ही कोई ऐसा संत कवि होगा जिसने काल के प्रभाव की चर्चा न की हो। निम्नांकित पंक्तियों में कतिपय प्रमुख सन्त कवियों के आधार पर निर्गुण काव्य मे काल के स्वरूप का परिचय प्रस्तुत किया जायगा।

कबीर ने सर्वभक्षक काल का वर्णन अपनी साखियों में 'काल को अङ्ग' के अन्तर्गत किया है। उन्होंने सम्पूर्ण जगत् को काल का खाद्य कहा है।[४] काल बाज है मनुष्य पक्षी है, किसी भी समय वह अकस्मात् आक्रमण से मनुष्य को पकड़ लेता है।[५] जिस

१ दरियासागर, पृ २९

२ दरियासागर, पृ २९

३ मन अगमे नव बार पौवाई। प्रगत्भ रूप मन कला देखाई॥
मन कर्म कर्ता काम कामी। वाम वाम छवि छाजहीं॥
मन निधि सागर खेवत खपना। सर्व रूप बनि आवही॥
मन अगम सागर जयो बूझत अगम अथाह॥
बहु सतगुरु शब्द जहाज उतरि जाय जन पार॥
—दरियासागर, पृ ६१

४ झूठे सुख कौं सुख कहैं मानत हैं मन मोद।
जगत चबीणा काल का कुछ मुख मैं कुछ गोद॥
—कबीर ग्रन्थावली पृ ७१

५. पापक आरिहुक लिस हूँ मारसि जासूसा।
काल सिचाँणाँ नर चिड़ा औझड़ औच्यता॥
—कबीर ग्रन्थावली पृ ७२

प्रकार बाज तीतर को झपट लेता है उसी प्रकार काल जीव को ग्रसता है।[1] सुर, नर, असुर और मुनि सब काल के पाश में बँधे हैं।[2] इससे किसी का निस्तार नहीं। शिकारी काल चारों ओर फिर रहा है, इससे बचने की विधि किसे ज्ञात है?[3] प्रभु की शरण में ही इससे निस्तार संभव है।[4] संत धर्मदास ने भी सद्गुरु कबीर की भाँति ही काल के संहारक एवं सर्वग्रासी स्वरूप का प्रतिपादन किया है। धर्मदास ने कहा है कि सम्पूर्ण जगत् काल के फंदे में पड़ा है।[5] काल के मुख में चतुर्दश भुवन हैं वह सबको अपना आहार बनाता है।[6] शिकारी काल हाथ में मुगदर (मृत्यु-अस्त्र) लिए फिर रहा है जीव रूपी शिकार प्राप्त होने पर वह तत्काल आक्रमण कर देता।[7] साधारण जीव की गणना ही क्या एक ही छलांग में सौ योजन विस्तृत समुद्र को लाँघने वाले और हाथों से पर्वत उठाने वाले (हनुमान) को भी प्रचण्ड काल ने अपना ग्रास बना लिया।[8] वस्तुतः परब्रह्म को छोड़कर इससे कोई नहीं बचा है।[9] संत सुन्दरदास ने बड़े विस्तार से काल का वर्णन करते हुए कहा है कि संसार में काल एक सर्वग्रासक जन्तु की भाँति सर्वत्र व्याप्त है। समस्त क्रियाओं को करते हुए, समस्त बन्धनों को बनाए रखते हुए भी मानव प्रति पल प्रति क्षण काल की ओर अग्रसर हो रहा है। काल के समान संसार में

---

१ कबीर पल की सुधि नहीं करै कालिह का साज।
काल अच्यंता झड़पसी ज्यूं तीतर को बाज॥
—कबीर ग्रन्थावली पृ ७२

२ सुर नर मुनिवर असुर सब पड़े काल की पासि।
—कबीर ग्रन्थावली पृ० ७६

३ काल अहेरी फिरहि बधिक ज्यों कहहु कौन बिधि कीजै।
—कबीर ग्रन्थावली पृ २१८

४ काल कलपना व्यापै न आइ। आदि पुरुष महि रहे समाइ॥
—कबीर ग्रन्थावली पृ २ १

५ यह संसार काल कर फंदा।
—धर्मदास की शब्दावली पृ ४२

६ चौदह लोक बसत का मुख सबको करत अहारा हो।
—धर्मदास की शब्दावली पृ ४२

७ काल के हाथ मुगदर, तड़ातड़ मारि है।
—धर्मदास की शब्दावली पृ ४३

८ सौ जोजन मरजाद सिंधु कै करते एकै फाल।
हाथन पर्वत तौलते तिन धरि खाया काल॥
—धर्मदास की शब्दावली पृ ४४

९ धर्मदास की शब्दावली पृ० ५७

१० सुन्दर दर्शन पृ ११।

कोई और शक्तिशाली नहीं है। तीनों लोकों में सर्वत्र इसी भयानक काल का भय छाया हुआ है। काल का बड़ा विकराल प्रभाव है। ब्रह्मा विष्णु महेश इन्द्र समस्त देवता कुबेर, राक्षस असुर, भूत प्रेत पिशाच सूर्य चन्द्र तारा पवन जल पृथ्वी आकाश, नदी नद सप्तद्वीप और नवखण्ड सभी काल का ध्यान करते ही भयभीत हो उठते हैं। केवल एक ब्रह्म ही उसके प्रभाव से बचा है अन्य कोई नहीं।[३] सुन्दरदास के मत से मनुष्य व्यर्थ ही अपने चिरस्थायी होने के विषय में सोचता है और भाँति-भाँति के गर्व करता है। काल मनुष्य की समस्त आयोजनाओं आशाओं और आकांक्षाओं को धूल में मिला देता है।[४] बिहार के दरिया साहब ने 'चौसर तो जिव मारि के नाम' द्वारा काल का सर्वभक्षक स्वरूप ही प्रतिपादित किया है। इससे परिणाम

---

१ काल सौं न बलवन्त कोऊ नहिं देखियत
सब कौ करत काल महा जोर है।
काल है भयानक भैभीत सब किये लोक
स्वर्ग मृत्यु पाताल मैं काल ही कौ सोर है॥
—सुन्दर ग्रन्थावली द्वितीय भाग पृ ४१८

२ सुन्दर सब ही डरत हैं देखि रूप विकराल।
मुख पसारि भक्ष कौ रह्यौ महा भयानक काल॥
सत्यलोक ब्रह्मा डर्‌यौ शिव डर्‌यौ कैलास।
विष्णु डर्‌यौ बैकुंठ मैं सुन्दर भाजी आस॥
इन्द्र डर्‌यौ अमरावती देवलोक सब देव।
सुन्दर डर्‌यौ कुबेर पुनि देखि सबन की छेव॥
राक्षस असुर सबै डरे भूत पिशाच अनेक।
सुन्दर डरत स्वर्ग कै काल भयानक एक॥
चन्द सूर तारा डरैं धरनी अरु आकाश।
पानी पावक पवन पुनि सुन्दर काही बास॥
सुन्दर डर सुनि काल की कम्प्यौ सब ब्रह्मण्ड।
सागर नदी सुमेर पुनि सप्त दीप नौ खण्ड॥
एक रहै करता पुरुष महाकाल कौ काल।
सुन्दर वह विनसै नहीं जाकौ यह सब ख्याल॥
—सुन्दर ग्रन्थावली द्वितीय भाग पृ ७४।

३ सुन्दर दर्शन पृ २१६।

४ दरिया साहब की शब्दावली पृ २२।

पाने के लिए दरियासाहब ने सतगुरु के ज्ञानरूपी अस्त्र का प्रयोग विशेष बताया है।[1]

निर्गुण काव्य के साम्प्रदायिक स्वरूप में यम भावना 'धर्मराय निरंजन' के रूप में व्यक्त हुई है। कबीरपंथ की रचनाओं में निरंजन को काल पुरुष कहा गया है।[2] कबीर पंथी ग्रन्थ 'अनुरागसागर' में निरंजन को काल[3] एवं धर्मराय[4] कहा गया है। यमराज के लिए धर्मराज का प्रयोग बहुत प्राचीन है, किन्तु 'काल पुरुष धर्मराय' के रूप में निरंजन को प्रस्तुत करना निर्गुण संत काव्य के साम्प्रदायिक स्वरूप की विशेषता है।

यह समस्त सृष्टि काल या यम के पाश में है। सन्तों ने इस काल को पराजित करके अकाल रूप ब्रह्म तत्त्व को प्राप्त करने के लिए पुनः-पुनः जीव को सचेत किया है। कबीर[5] दादू,[6] नानक[7] जगजीवन साहब[8] दरिया साहब[9] गरीबदास[10] पलटू साहब[11] आदि संत कवियों ने बार-बार काल से सचेत रहने का उपदेश दिया है। वस्तुतः काल से मुक्त होने पर ही जीव आवागमन के चक्र से छूटता है और यही उसका परित्राण है।

कर्म

संत-काव्य में कर्म का विरोध है। संत कवि कर्म को त्याज्य मानते हैं। इसका कारण यह है कि कर्म जीव का बन्धन है। कबीर ने 'करम कादि की रेह रच्यौ रे'[12]

---

१ काल का फाँस को कटि कतल किया।
काल गुरु संदेश से काटि मारा।।
—दरिया साहब की शब्दावली पृ. १२।

२ कबीर, पृ. ३२।

३ अनुराग सागर, पृ. १ १२।

४ अनुराग सागर पृ. १२, १३।

५. सन्तबानी संग्रह प्रथम भाग, पृ. ८।

६ " पृ. ७९।

७ " पृ. १८।

८ " " पृ. ११७।

९ " " पृ. १६१।

१० " " पृ. १८८।

११ " " पृ. २१४।

१२ कबीर ग्रन्थावली पृ. ८८।

के द्वारा समस्त कर्मों के द्वारा जीव का बन्धन कहा है। कर्म के बन्धन में पड़ कर जीव पुनः-पुनः जन्म ग्रहण करता है। संत दादूदयाल ने कर्म को जीव के लिए जंजाल बताया है।[२] धर्मदास ने कहा है कि कर्म से परित्राण न प्राप्त कर सकने के कारण जीव का जीवन व्यर्थ हो जाता है।[३] संत सुन्दरदास ने भी करम नहीं करम सब त्यागै[४] के द्वारा कर्म का निषेध किया है क्योंकि कर्म त्याग से बन्धनमुक्त होकर जीव निष्कर्म आत्मकाम करता है। संत चरनदास ने कर्म को जीवात्मा का बन्धन निर्दिष्ट करते हुए कहा है कि कर्म के कारण जीव भ्रमित हो रहा है, वह प्रियतम (ब्रह्म) से नहीं मिल पाता।[५] वस्तुतः कर्म से जीव का परित्राण नहीं हो सकता इससे तो उसका रोग (भवताप) और भी बढ़ जाता है।[६] बिहार के संत दरिया साहब ने भी कर्म को जीव बन्धन का कारण बतलाते हुए कहा है कि जन्म जन्मान्तर में उत्कृष्ट एवं निकृष्ट योनि की प्राप्ति कर्मानुसार होती है।[७] कर्म के कारण ही जीव अनेक योनियों में रहकर भव में भ्रमित होता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्म जीव का बन्धन है और इसी लिए सन्तों की दृष्टि में त्याज्य है। सन्तों ने पुनः-पुनः कहा है कि ज्ञान द्वारा कर्म त्यागने से ही निष्कर्म आत्मा प्रकाशित होता है। कबीर ने कर्म भ्रम त्याग कर ब्रह्म से लौ लगाई थी।[९] उन्होंने कहा है कि शुभ एवं अशुभ कर्म रूपी भ्रम का विनाश करने पर

---

१ करम का बान्ध्या जीयरा अह निसि आवै जाइ।
—कबीर ग्रन्थावली पृ २२८।

२ मन अपना लै लीन करि करणी सब जंजाल॥
—दादूदयाल की बानी प्रथम भाग पृ ९२।

३ एको कर्म छूटै न कबहूँ बहु विधि भाव विचारो।
—धर्मदास की शब्दावली पृ ११।

४ सुन्दर विलास पृ ९

५ करम छपी भरमत फिरो मिला न अपने पीव।
—चरनदास की बानी प्रथम भाग पृ १४।

६ क्रिया कर्म की औषधि जेती रोग बढ़ावन हारी।
—चरनदास की बानी प्रथम भाग पृ ४२।

७ संत कवि दरिया पृ [illegible]

८ संत कवि दरिया पृ [illegible]

९ दास कबीर रहा लौ लाइ कर्म धर्म सब दिये बहाइ।
—कबीर ग्रन्थावली पृ १५४।

प्रकाश प्रकाशित हुआ।[1] दादू ने अपने अनुभव से कहा है कि कर्म का पाश काट कर उन्हें आत्मकाम हुआ।[2] धर्मदास ने भी कर्म को ज्ञान की अग्नि में जलाकर प्रेमरूप प्रभु को प्राप्त किया।[3] सन्त चरनदास ने कहा है कि कर्म बन्धन से छुटकारा पाकर जीव मुक्त हो जाता है।[4] इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि सन्तों की दृष्टि में कर्म त्याज्य है। ज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान से कर्मपाश से निस्तार मिलता है।

ज्ञान

निर्गुन-सम्प्रदाय में 'ज्ञान' शब्द ब्रह्मज्ञान का अभिप्राय व्यक्त करता है। कबीर ने कहा है कि यह ज्ञान विचारणीय है, जिससे आवागमन छूट जाता है।[5] इससे स्पष्ट हो जाता है कि कबीर के अनुसार ज्ञान का अर्थ आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान है। इसकी प्राप्ति से मनुष्य सदा सर्वदा के लिए भवबन्धन से मुक्त हो जाता है। 'अब मैं पाइबो रे पाइबो ब्रह्म गियान'[6] के द्वारा कबीर ने आत्मोपलब्धि की चर्चा ही की है। आत्मज्ञान की दशा में न भ्रम रहता है, न माया न द्वैत न मोह न तृष्णा, न दुर्मति। आत्मज्ञान की दशा में मन लोकोत्तर प्रकाश से जगमगा उठता है।[7] कबीर की भाँति ही दादूदयाल ने भी ज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान की पुनः पुनः चर्चा की है। उन्होंने कहा है कि सीधे स्वानीम ब्रह्म

---

१ जब पाप पुनि भ्रम जारी तब भयौ प्रकास मुरारी।

—कबीर ग्रन्थावली पृ १७८।

२ दादू राम समालता कटै करम के पास।

—दादू दयाल की बानी प्रथम भाग पृ १ ।

३ कर्म जलाय के काजल कीन्हा पढ़ें प्रेम की बानी॥

—धर्मदास की शब्दावली पृ ३।

४ कर्म छूटै मिटै जीवना मुक्ति धाम हूँ जाय।

—चरनदास की बानी प्रथम भाग पृ १५।

५ अवधू ऐसा ग्यान बिचारी ज्यूँ बहुरि न ह्वै संसारी॥

—कबीर ग्रन्थावली पृ १२९।

६ कबीर ग्रन्थावली पृ ८९।

७ देखो भाई ग्यान की आई आँधी।
सबै उड़ाणी भ्रम की टाटी रहै न माया बाँधी।
दुचिते की दुइ थूनि गिरानी मोह बलीडा टूटा॥
तिस्ना छानि परी धर ऊपर दुर्मति भाँडा फूटा।
आंधी पाछै जो जल बर्षै तिहिं तेरा जन भीना॥
कहि कबीर मन भया प्रकासा उदयभानु जब चीन्हा।

—कबीर ग्रन्थावली पृ २११।

ने ज्ञान को प्राप्त करके मैल अपने मन में रखा।[1] यह अनन्त ब्रह्म का निर्मल ज्ञान स्वयं प्रकाशित तत्व है।[2] इन्द्रियों को पंगुल करने वाला ज्ञान आत्मा में उत्पन्न होता है।[3] इससे स्पष्ट हो जाता है कि संत दादूदयाल ज्ञान का अभिप्राय ब्रह्मज्ञान मानते हैं। सुन्दरदास ने कहा है कि ज्ञान के बिना हृदय की ग्रन्थि नहीं छूटती।[4] जब ज्ञान का प्रकाश होता है तब त्रिगुणातीत साक्षी पुरुष तुरीयस्वरूप या ब्रह्मरूप हो जाता है।[5] जिस प्रकार पक्षी पंख से गगन में उड़ता है उसी प्रकार ज्ञानी ज्ञान के द्वारा ब्रह्म में निवास करता है।[6] चरनदास भी ज्ञान को अध्यात्म का महत्वपूर्ण अङ्ग मानते हैं। उन्होंने 'आतम ज्ञान बिना नहिं मुक्ति'[7] के द्वारा यह प्रतिपादित किया है कि मोक्ष के लिए ज्ञान या आत्मज्ञान अनिवार्य है। बिहार के सन्त दरिया साहब ने भी—'आतम दरस ज्ञान जब होई[8] आतम दरस ज्ञान जब हूवै' के द्वारा कहा है कि वास्तविक ज्ञान तभी होता है, जब आत्म-दर्शन या आत्म-ज्ञान प्राप्त होता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि संत-काव्य में ज्ञान या ब्रह्मज्ञान का बड़ा महत्व है और उसे अध्यात्म विद्या का प्रमुख अङ्ग माना गया है। सुन्दरदास[9] चरनदास[1] इत्यादि सन्तों ने इसे अज्ञान या अविद्यानाशक बतलाया है।

---

१ सारी के सिर देखिए, उस पर कोई नाहिं।
दादू ज्ञान विचारि करि सो राख्या मन माहिं॥
—दादू दयाल की बानी प्रथम भाग पृ० १९१।

२ आपै आप प्रकाशिया निर्मल ज्ञान अनन्त।
—दादूदयाल की बानी प्रथम भाग पृ० १७०।

३ आतम माहिं ऊपजै दादू पंगुल ज्ञान।
—दादू दयाल की बानी प्रथम भाग पृ० ३।

४ बिना ज्ञान पाये नहीं छूटत हृदय ग्रन्थि।
—सुन्दर विलास पृ० ६४।

५ त्रिगुण अतीत साक्षी तुरिया स्वरूप ब्रह्म।
सुन्दर कहत जबै ज्ञान को प्रकाश है॥
—सुन्दर विलास पृ० १४८।

६ जैसे पक्षी पंखन सूं उड़त गगन माहिं।
तैसे ज्ञानी ज्ञान करि ब्रह्म में चरतु है॥
—सुन्दर विलास, पृ० १५१।

७ चरनदास की बानी प्रथम भाग पृ० ५२।

८ दरिया सागर, पृ० ३२।

९ सुन्दर विलास पृ० १३८।

१ चरनदास की बानी प्रथम भाग पृ० ४६।

संत काव्य में आत्मज्ञान प्रतिपाद्य है। शास्त्रज्ञान त्याज्य माना गया है। कबीर ने जब 'झूठा जप तप झूठो ग्यान' कहा है तब उनका अभिप्राय शास्त्र ज्ञान की व्यर्थता प्रतिपादित करना ही है।[1] चरणदास ने अपनी 'बानी' में विस्तारपूर्वक शास्त्र-ज्ञान और शास्त्र ज्ञानियों की आलोचना की है।[2] वस्तुतः ब्रह्मानुभूति या आत्म ज्ञान की तुलना में शास्त्र-ज्ञान का कोई महत्व नहीं है।

भक्ति

निर्गुण काव्य भक्ति-काव्य है। अतएव निर्गुण-सम्प्रदाय के कवियों में भक्ति-भावना पूर्णतया विद्यमान है। भागवत में भक्ति को प्रेमरूपिणी कहा गया है।[3] कबीर ने भी भक्ति को प्रेम रूपा माना है।[4] उन्होंने प्रेमाभक्ति का ध्यान रख कर ही 'नारदी भक्ति' की चर्चा की है।[5] नारद ने भक्ति को 'सात्वस्मिन् परम प्रेम रूपा'[6] कह कर उसे स्पष्ट रूप से प्रेम विशिष्ट घोषित किया है। अतएव कबीर की प्रेमरूपा भक्ति का आधार पूर्ववर्ती साधना में मिल जाता है। इसके अतिरिक्त भक्ति भाव का मुख्य लक्षण शरणागति या प्रपत्ति भी कबीर की उपासना में विद्यमान है।[7]

कबीर ने भक्ति का महत्व प्रतिपादित करते हुए कहा है कि जिस ब्रह्म को शास्त्री व्यक्त करने में असमर्थ हैं वह रामभक्ति से अनायास ही मिल गया है।[8] संत दादू दयाल

---

१ कबीर ग्रन्थावली पृ १७४।

२ चरणदास की बानी प्रथम भाग पृ २९१।

३ भागवत् महापुराण ७। १६।

४ कहै कबीर जन भये खालसा प्रेम भगति जिन जानी।
—कबीर ग्रन्थावली पृ १२४।

५ भगति नारदी मगन सरीरा इह बिधि भवतिरि कहै कबीरा।
—कबीर ग्रन्थावली पृ १८३।

६ नारद भक्ति सूत्र २।

७ गोव्यंदे तुम्हथै डरपौं भारी।
सरणाई आयौ क्यू गहिये यहु कौन बात तुम्हारी।
तारन-तिरन तिरेन तू तारन और न दूजा जानौं।
कहै कबीर सरनाई आयौं आंन देव नहीं जानौं॥
—कबीर ग्रन्थावली पृ० १२१।

८ ब्रह्म कथि कथि अन्त न पाया। राम भगति बैठे घर आया॥
—कबीर ग्रन्थावली पृ ९७५।

ने भी प्रभु से प्रेम भक्ति की याचना की है।[1] अन्यत्र भक्ति के सम्बन्ध में उन्होंने कहा है कि प्रभु का स्मरण एवं प्रेमपूर्वक भजन करना चाहिए।[2] दादू का कथन है कि प्रेम भक्ति में अनुरक्त होकर आत्मोन्मुख होकर उन्होंने पूर्ण भक्ति प्राप्त की।[3] कबीर की भाँति दादू दयाल ने भी शरणापत्ति भावना का वर्णन किया है। उन्होंने कहा है कि प्रभु की शरण में मुझे अनन्त सुख प्राप्त हुआ है।[4] सन्त चरनदास ने कहा है कि अनन्य भक्ति को छोड़कर मैं दूसरे साधना-मार्ग पर नहीं चलूँगा।[5] उन्होंने 'आपू प्रेमा उमग अब हरि बरसाय'[6] के द्वारा प्रेमाभक्ति से आत्म दर्शन का वर्णन किया है। अन्यत्र उन्होंने 'भक्ति गरीबी लीजिये'[7] के द्वारा भक्ति में दास्य भाव की चर्चा की है। बिहार के संत कवि दरिया साहब ने कहा है कि ईश्वर प्राप्ति की इच्छा रखने वाले व्यक्तियों के लिए परमात्मा में भक्ति होना परमावश्यक है। भक्ति के बिना जीवन उस पेड़ के समान है जिसमें न फल हो और न फूल, उस कमल के समान है जो बिना सरोवर के हो, उस दीप के समान है जिसमें बाती न हो, उस पत्नी के समान है जिसका पति न हो, उस सर्प के समान है जिसमें मणि न हो और उस मछली के समान है जो नीर के लिए तड़पती हो।[8] दरिया साहब की भक्ति दास्य भक्ति है जिसमें भक्त अत्यन्त विनम्र होकर अपने आराध्य देव के चरणों में आत्म समर्पण कर देता है। वह अपने प्रभु का दास है, उसका स्वामी गरीब निवाज

---

१ भगति माँगी बाप भगति माँगी।
मूने ताहरा नाम नो प्रेम लागो ॥
—दादूदयाल की बानी द्वितीय भाग पृ ७५।

२ हरि सुमिरण स्यूं हेत लगाइ।
भजन प्रेम जस गाविये भाइ ॥
—दादू दयाल की बानी द्वितीय भाग पृ १६५।

३ आतम भगि पूरण भगि प्रेम भगति राता ॥
—दादू दयाल की बानी द्वितीय भाग पृ १८५।

४ सरनि तुम्हारी केसवा मैं अनन्त सुख पाया ॥
—दादू दयाल की बानी द्वितीय भाग पृ ७८।

५ अनन्य भक्ति दृढ़ सूं गही मारग आन न जाँव।
—चरनदास की बानी द्वितीय भाग पृ १।

६ चरनदास की बानी द्वितीय भाग पृ १६।

७ चरनदास की बानी प्रथम भाग पृ ७७।

सन्त कवि दरिया पृ १२५।

९. " पृ १२६।

है। वह उनके आराधक के गुण अवगुण नहीं खोजा करता। आराधक को भी केवल शरण चाहिए। यदि उसे शरण न मिली तो प्रभु के नाम पर बट्टा लगेगा। अतः अपने 'गरीब निवाज' नाम की लज्जा के लिए वह भक्त को शरण प्रदान ही करेगा।[1]

उपर्युक्त पंक्तियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि निर्गुण काव्य में मुख्यतः प्रेम भक्ति तथा दास्य भक्ति का प्रतिपादन किया गया है। इसके अतिरिक्त प्रपत्ति या शरणागति का सिद्धान्त भी समादृत है।

अवतार

अवतारों के खण्डन की नाथपंथीय परम्परा ही निर्गुण काव्य में विकसित हुई। इन परम्परागत प्रभाव को पुष्ट करने वाली विचारधारा के सम्पर्क में आने के कारण अवतार का ब्रह्मत्व निर्गुण काव्य का निश्चित लक्ष्य बन गया। यह विचारधारा इस्लाम की थी। इस्लाम के अनुसार ब्रह्म अवतार नहीं धारण करता।[2] इस विचार से निर्गुण कवियों का अवतार के अब्रह्मत्व सम्बन्धी सिद्धान्त निश्चय ही पुष्ट हुआ होगा। निर्गुण काव्य में अवतार का जिस प्रबल पद्धति पर खण्डन किया गया है, वह नाथपंथी परम्परागत प्रभाव के साथ ही इस्लामी मतवाद की पुष्टि के कारण। अतएव यह कहा जा सकता है कि अवतारों के खण्डन की नाथपंथीय परम्परा का इस्लाम की पुष्टि द्वारा निर्गुण काव्य में विकास हुआ।

कबीर ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि राम कृष्ण आदि सुप्रसिद्ध अवतारों के रूप में परब्रह्म अवतरित ही नहीं हुआ—

ना जसरथि घरि औतरि आवा। ना लंका का राव सतावा ॥
देवै कूख न औतरि आवा। ना जसवै लै गोद खिलावा ॥
ना ग्वालन के संग फिरिया। गोबरधन लै न कर धरिया ॥
बावन होय नहीं बलि छलिया। धरनी बेद लै न उधरिया ॥
गंडक सालिगराम न कोला। मछ कछ ह्वै जलहि न डोला।
बदरी बैठि ध्यान नहिं लावा। परसराम ह्वै खत्री न सतावा ॥
द्वारामती शरीर न छाडा। जगन्नाथ ले प्यंड न गाडा ॥[3]

१ सन्त कवि दरिया पृ १२६।
२ सूफीमत साधना और साहित्य पृ २४८।
३ कबीर ग्रन्थावली पृ २४३।

अन्य सन्तो ने भी इसी प्रकार स्पष्ट शब्दो मे अवतारवाद को अस्वीकार किया है। दादू दयाल ने कहा है कि अवतार ब्रह्म नहीं है वे तो कृत्रिम कालाधीन पुनबद्ध एवं जन्म-मरण के चक्र में पड़े हुए है—

दादू इतना काम बलि बच्या मुख माही।
उपजै बिनसै देखना यहु करता नाही॥

दादू के शिष्य रज्जबदास ने भी अवतारो के ब्रह्मत्व में अविश्वास प्रकट करते हुए कहा है कि राम और परशुराम दोनो एक ही समय में हुए। दोनो परस्पर एक-दूसरे के द्वेषी थे। कहिए किसको कर्ता कहे—

परशुराम और रामचन्द्र भये सु एकै बार॥
तो रज्जब हूँ हूँपि करि को कहिए करतार॥[२]

दरिया साहब ने भी अवतारवाद का खण्डन किया है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि अवतार पुरातन पुरुष अर्थात् ब्रह्म नही हैं—

पुरुष पुरान न होहिं अवतारा। मावे जोति करै उजियारा॥

अन्यत्र उन्होने अवतारो को मायिक निर्दिष्ट करते हुए कहा है कि राम एवं कृष्ण के रूप में ज्योति या माया ही प्रकट हुई है—

रामै जोति प्रगट नहिं कोई। कि पुन रूप धरे पुनि सोई॥[४]

संसार राम और कृष्ण को ब्रह्म रूप मानता है किन्तु आवागमन के चक्र में पड़ने वाला ब्रह्म कैसे हो सकता है—

राम नाम सब सब काई बाना। कृष्ण रूप सोइ ब्रह्म बखाना॥
आवै जाय मया कर कीन्हा। उपजै बिनसै तन होइ भीना॥[५]

इससे यह प्रमाणित होता है कि संत काव्य में अवतार अमान्य है। सन्तों की दृष्टि में अवतार ब्रह्म न होकर मायिक है और काल कर्मबद्ध होकर आवागमन के चक्र में पड़े है।

---

१ दादू दयाल की बानी प्रथम भाग पृ १५।
२ सर्वांगी ४२।२९।
३ दरिया सागर, पृ २।
४ ,, पृ २।
५ पृ ८।

योग

निर्गुण संत काव्य में योग के तत्व यथेष्ट मात्रा में उपलब्ध हैं। संत काव्य में योग का स्वरूप शास्त्रीय एवं विश्लेषणात्मक पद्धति पर कम प्राप्त होता है अधिकतर योग अनुभूतिमय शब्दों में रहस्यात्मक रूप धारण करके प्रकट होता है। पर उसका भेद उद्घाटित करना बहुत कठिन नहीं है। उदाहरणार्थ कबीर की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं –

> सुनि मंडल में मंदला बाजै तहाँ मेरा मन नाचै।
> गुरु प्रसादि अमृत फल पाया सहजि सुषमना काछै॥

'शून्य' आदि योग के पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग मंदला बजने एवं मन के नृत्य करने के उल्लेख से उपर्युक्त वर्णन रहस्यमय हो उठा है। पर इसमें रहस्यमयता कुछ नहीं है। वस्तुतः इन पंक्तियों में कबीर ने सुषुम्ना पथ से प्राणवायु को शून्य या ब्रह्मरंध्र में लय करके नादानुसंधान रूपी अमृत फल प्राप्त करने की चर्चा की है। उस ब्रह्म के साक्षात्कार में उनका मन जिस आनन्द की अनुभूति करता है उसी को व्यक्त करने के लिए कबीर ने मन के नृत्य करने का वर्णन किया है। इसी प्रकार निम्नलिखित उद्धरण में उन्होंने शून्य या ब्रह्मरंध्र में परम ज्योति स्वरूप सहस्रार का वर्णन 'बिन फूलनि फूल्यो रे आकास' कहकर किया है —

> सुनि मंडल में सोधि लै परम जोति परकास।
> तहुँवा रूप न रेख है बिन फूलनि फूल्यो रे आकास॥[2]

कबीर ने योग की जिन मुद्राओं का प्रभाव ग्रहण किया उनमें खेचरी प्रसिद्ध है। इसमें योगी जीभ को उलटकर कपाल कुहर में प्रविष्ट करता है और उसकी दृष्टि भ्रुवों में स्थिर होती है। सहस्रार स्थित चन्द्रमा से निःसृत अमृत को योगी खेचरी मुद्रा में ऊर्ध्वमुखी जिह्वा द्वारा पान करता है। इस दशा को योगांग सेवन भी कहा गया है क्योंकि योगमार्गीय शब्दों में गो का अर्थ जिह्वा है और उसे उलटकर तालु प्रदेश में

---

१ कबीर ग्रन्थावली पृ ११।
२ कबीर ग्रन्थावली पृ १३७।
३ ब्रह्मरन्ध्रे हि यत्पद्मं सहस्रारं व्यवस्थितम्।
तत्र कन्दे हि या योनि तस्यां चन्द्रो व्यवस्थितः॥
त्रिकोणाकारतस्तस्या सुधा क्षरति सततम्।
—शिवसंहिता ५/१४।

के ज्ञान को सोमरस भक्षण कहते हैं। ऊपर जिस चन्द्रमा से निर्झरित सोम रस की चर्चा की गई है वही अमरवारुणी है।[2] कबीर ने खेचरी मुद्रा द्वारा सोमरस भक्षण न करने वाले योगियों की प्रताड़ना की थी[3] और इसी रस के पान के निमित्त अवधूत योगी को ललकारा था।[4] उन्होंने स्वयं 'मदन रस' या सहस्रार से स्रवित चन्द्रामृत के पान का उल्लेख किया है।[5]

कबीर की रचनाओं में हठयोग में वर्णित नाड़ी, चक्र, कुण्डलिनी आदि तत्वों का यथास्थान वर्णन हुआ है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेख करना आवश्यक है कि कबीर ने इन तत्वों का वर्णन नहीं किया है अपितु वे उनकी अध्यात्म साधना के अङ्ग रूप में दृष्टिगत होते हैं। उन्होंने योग के प्रसंग में अष्टांग या षडंग योग के आसन और पवन (प्राणायाम) तत्वों का उल्लेख किया है।[6] नाड़ियों की चर्चा उनके पदों में अनेक स्थलों पर हुई है। उन्होंने इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियों की चर्चा योग वर्णन के प्रसंग में प्रायः की है।[7] कुछ स्थलों पर इड़ा एवं पिंगला को कबीर ने सूर्य एवं चन्द्र

---

१ कबीर पृ ४८

२ कबीर, पृ ४९

३ नित अमावस नित ग्रहन होइ राहु ग्रास तन छीजै।
सुरही भच्छन करत बेद मुख घन बरिसै तन छीजै॥
—बीजक शब्द ८२।

४ अवधू गगनमंडल घर कीजै।
अमृत झरै सदा सुख उपजै बंकनालि रस पीजै॥
—कबीर ग्रन्थावली पृ ११।

५ अवधू मेरा मन मतिवारा।
उन्मनि चढ्या मगन रस पीवै त्रिभुवन भया उजियारा॥
—कबीर ग्रन्थावली पृ ११।

६ आसन पवन किए दृढ़ रहु रे, मन को मैल छाड़ि दे बौरे।
—कबीर ग्रन्थावली पृ २ ७।

७ इड़ा पिंगला सुषमन नाड़ी ए कुण कहाँ समाही॥
—कबीर ग्रन्थावली, पृ ८९।
इड़ा पिंगुला भाठी कीन्ही ब्रह्म अगनि परजारी॥
—कबीर ग्रन्थावली पृ १११।
सुषमन नाड़ी सहजि समानी पीवै पीवनहारा॥
—कबीर ग्रन्थावली, पृ ११।

भी कहा है। कबीर की रचनाओं में षट्चक्रों का कोई विवरण नहीं प्राप्त होता केवल कुछ उल्लेख मात्र प्राप्त होते हैं। उन्होंने पवन को ऊर्ध्वगामी करके षट्चक्र बेधने की चर्चा की है।[२] उनकी रचनाओं में कुण्डलिनी योग का विशेष वर्णन नहीं है अपितु कुछ स्थलों पर 'सोवत नागिनी जागी'[३] आदि के प्रयोग से भुजगिनीरूपा कुण्डलिनी उत्थापन का संकेत किया है। अन्यत्र कुण्डलिनी को पनिहारिन एवं सहस्रार को कूआ निर्दिष्ट करते हुए कुण्डलिनी योग का भावात्मक स्वरूप भलीभाँति प्रकट किया गया है।[४] वस्तुतः हठयोग से सम्बन्ध रखने वाले सूक्ष्म तत्वों का कबीर ने सांकेतिक एवं संक्षिप्त वर्णन ही किया है।

कबीर ने उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त नादानुसंधान[५] अजपा या हुत मन[६] पंच प्राण[७] पचीस प्रकृति त्रिकुटी संगम[८] आदि विषयों की संक्षिप्त एवं सांकेतिक चर्चा की है। वस्तुतः कबीर का योग वर्णन सांकेतिक प्रणाली पर ही चलता है। उसमें योग की व्याख्या विश्लेषण या विवरण प्रस्तुत करने का प्रयत्न कहीं नहीं है।

संत कवियों में सुन्दरदास ही ऐसे कवि हैं जिन्होंने योग वर्णन बहुत कुछ शास्त्रीय पद्धति पर किया है। सुन्दरदास ने अष्टांगयोग का वर्णन 'ज्ञान समुद्र' एवं 'सर्वांगयोग प्रदीपिका' में किया है। ज्ञान समुद्र' के तृतीयोल्लास में कवि ने सभी विभिन्न छन्दों

---

१ घट धूर होइ अजपा बंक नालि की डोरि।
 सूखे पथ पिमारिवी तहा सूर्ज बीय भोर॥
 —कबीर ग्रन्थावली पृ ९४

२. उलटे पवन चक्र षट बेधा मेर डंड सरपुरा।
 उलटे पवन चक्र षट बेधा सुन्नि सुरति लै लागी॥
 —कबीर ग्रन्थावली पृ ९-९१

३ कबीर ग्रन्थावली पृ १११

४ आकासे मुखि औंधा कूआं पाताले पनिहारि।
 ताका पाणी को हंसा पीवै बिरला आदि विचारि॥
 —कबीर ग्रन्थावली पृ १६

५. कबीर ग्रन्थावली पृ ९ ११ १४७

६ कबीर पृ १ ५, १२८, १९९

७ संत कबीर, पृ ७६

८ संत पृ ११ ११८

९. कबीर ग्रन्थावली पृ १ ९

१ सुन्दर दर्शन पृ २९१

में अष्टांगयोग का परिचय कराया है।[1] कवि ने यम अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य क्षमा धृति दया आर्जव मति आप होम आसन प्राणायाम पवन के स्थान प्राणायाम किया, कुंभक वर्णन मुद्राणाम प्रत्याहार पंचतत्व की धारणा पृथ्वीतत्व की धारणा आकाश तत्व की धारणा ध्यान पदस्थ ध्यान पिंडस्थ ध्यान रूपस्थ ध्यान रूपातीत ध्यान समाधि आदि का सविस्तार वर्णन किया है।[2] सुन्दरदास ने चौरासी आसनों का भी उल्लेख किया और उनमें से पद्मासन एवं सिद्धासन को सारभूत बताया है।[3] उन्होंने प्राणायाम के प्रकरण में रेचक पूरक एवं कुंभक का उल्लेख किया है।[4] कुंभक प्राणायाम की सिद्धि के अनन्तर दशध्वनियुक्त नाद स्वतः सिद्ध हो जाता है जिससे सब प्रकार के विकार एवं भवताप से साधक मुक्त हो जाता है।[5] मुद्राओं के प्रसंग में सुन्दरदास ने महामुद्रा महाबन्ध महावेध खेचरी उड्डीयानबन्ध मूलबंध जालन्धरबंध विपरीत-करणी वज्रोली और शक्तिचालनी नामक दस प्रसिद्ध मुद्राओं का वर्णन किया है।[6] प्रत्याहार वर्णन में कवि ने इन्द्रियों के निग्रह पर जोर दिया है। जिस प्रकार कछुआ अपने हाथ पैर और सर को अन्दर कर लेता है, उसी प्रकार साधक को स्वइन्द्रिय अन्तर्मुखी कर लेना चाहिए। जैसे सूर्य की किरणें जलादि रस द्रव्यों को खींच लेती हैं उसी प्रकार साधक इन्द्रियों का निग्रह करता रहे।[7] धारणा में कवि ने पृथ्वी जल, तेज

---

१ सुन्दर दर्शन पृ २६।

२ „ „ पृ २७।

३ चतुरासी आसननि मे सार भूत द्वै जानि।
सिद्धासन पद्मासनहि नीके कही बखानि॥
—ज्ञान समुद्र तृतीय उल्लास पृ ११।

४ ताके कीजै प्राणायाम। नाड़ी चक्र पावै ठाम।
पूरे राखै रेचै कोई। द्वै नि पाप योगी होई॥
—ज्ञान समुद्र तृतीयोल्लास ४१।

५ बाजहि अष्ट कुम्भक बाजहि, बाजै अनहद नाद।
दश प्रकार की धुनि सुनहिं छूटहि सकल विषाद॥
—ज्ञान समुद्र तृतीयोल्लास ६६।

६ पुनि महा मुद्रा महाबन्ध महावेध च खेचरी।
उड्डियानबन्ध सु मूलबन्धहि बन्ध जालन्धर करी॥
विपरीत करणी पुनि वज्रोली शक्ति चालन कीजिए।
दश होइ योगी अमर काया शक्तिमा लिन पीजिए॥
—ज्ञान समुद्र तृतीयोल्लास ६८

७ ज्ञान समुद्र तृतीयोल्लास ६ ।

वायु एवं आकाश तत्व की धारणा का प्रतिपादन किया है। ध्यान के अन्तर्गत सुन्दरदास ने ध्यान के चार भेदों का उल्लेख करते हुए[2] निर्गुण निराकार अखंड अनादि शून्य ब्रह्म का रूपातीत ध्यान ही अखंड समाधि का हेतु निर्धारित किया है।[3] सुन्दरदास ने समाधि की दशा में ज्ञाता एवं ज्ञेय व ध्याता एवं ध्येय की एकात्मकता का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि जिस प्रकार नमक तथा पानी मिला देने से भेद रहित हो जाते हैं अथवा दुग्ध दुग्ध में घृत घृत में और जल जल में मिला देने से भेद रहित हो जाते हैं, ठीक उसी प्रकार समाधि की अवस्था में ध्याता एवं ध्येय एक हो जाते हैं उनमें लेशमात्र का भी अन्तर नहीं रह जाता है।[4]

सुन्दरदास प्रणीत अष्टांग योग का उपर्युक्त विवरण यह प्रकट करता है कि उनका योग वर्णन सुस्पष्ट एवं व्यवस्थित है। कबीर की भाँति उसे रहस्यमय बनाकर प्रस्तुत करने की भावना सुन्दरदास में रंचमात्र भी नहीं है। अष्टांग योग की ही भाँति नाड़ी दस वायु एवं चक्रों का वर्णन संत सुन्दरदास ने शास्त्रीय एवं सुस्पष्ट पद्धति द्वारा किया है। उन्होंने अनेक नाड़ियों में से मुख्य दस मानी हैं और इनमें भी तारतम्य नाड़ियाँ इड़ा पिंगला और सुषुम्ना को ही माना है।[5] दस वायु का उल्लेख करते हुए[6] उन्होंने प्राण को हृदय में अपान गुदा में समान नाभि में उदान कंठ में व्यान समस्त देह में नाग डकार में कूर्म नेत्र में कृकल क्षुधा में देवदत्त जम्हाई में एवं धनञ्जय को मृत्यु के उपरान्त शरीर में व्याप्त माना है।[7] इसके अतिरिक्त कवि सुन्दरदास ने चक्र निरूपण भी व्यवस्थित ढंग से किया है। षट् चक्रों में से प्रथम मूलाधार, द्वितीय स्वाधिष्ठान तृतीय मणिपूरक चतुर्थ अनाहत पंचम विशुद्ध षष्ट आज्ञा चक्र का वर्णन उन्होंने शिवसंहिता

---

१ सुन्दर दर्शन पृ ४७-४८।

२ „ „ पृ ४८।

३ है शून्याकार जु ब्रह्म आप। बरतहु तिनि पुरुष अति अमापु।
जो करय ध्यान सायोज्य होई। यह कहीं समाधि अखंड सोइ॥
—ज्ञान समुद्र, तृतीयोल्लास ८३ ८४।

४ सुन्दर दर्शन पृ ५१।

५. नाड़ी कही अनेक विधि है दस मुख्य विचार।
इड़ा पिंगला सुषुमना तब महि ये भव सार॥
—ज्ञान समुद्र तृतीयोल्लास ४४।

६. प्राणापान समानहि जानै व्यानोदान पवन मन आनै।
नाग सु कूर्म कृकल सु कहिये देवदत्त सु धनंजय लहिये॥
—ज्ञान समुद्र तृतीयोल्लास ४७।

७ सुन्दर दर्शन पृ ५७।

घेरंड संहिता एवं हठयोग प्रदीपिका आदि योग के प्रामाणिक ग्रन्थो की शास्त्रीय पद्धति पर ही किया है।[1]

सुन्दरदास ने राज हठ लय लक्ष आदि सुप्रसिद्ध योगचतुष्टय के वर्णन के साथ ही लक्षयोग सांख्य योग ज्ञानयोग भक्तियोग चर्चायोग ब्रह्मयोग अद्वैतयोग का विस्तृत वर्णन भी किया है।[2] लक्षयोग मे उन्होने ऊर्ध्व मध्य और बहि लक्ष्य का उल्लेख करते हुए बताया है कि ऊर्ध्व लक्ष्य आकाश मे दृष्टि रखकर, मध्य लक्ष्य मन मे ब्रह्मनाडी क अभ्यास से और बहि लक्ष्य पचतत्व की धारणा नासिकाग्र दृष्टि रखकर करना चाहिए।[3] सांख्ययोग मे कवि ने सांख्य दर्शन का एव उसके २५ तत्वो का विवेचन किया है।[4] ज्ञान योग एव भक्तियोग मे सुन्दरदास ने आत्मज्ञान का अपरोक्ष रूप और निर्गुण ब्रह्म की भक्ति की व्याख्या की है।[5] चर्चायोग मे कवि ने ब्रह्म की महत्ता सर्वव्यापकता एव सर्वशक्तिमत्ता की चर्चा या वर्णन को योग कहा है।[6] ब्रह्मयोग मे उन्होंने 'अहम् ब्रह्मास्मि' प्रतिपादन किया है। एव अद्वैतयोग मे सर्वात्मवाद का प्रतिपादन करते हुए साधक व ब्रह्म की एकता निर्दिष्ट की है। वस्तुत सुन्दरदास के विविध योग वर्णन के मूल मे विद्यमान साधना दार्शनिक सबद्ध है। उन्होने साम्प्रदायिक योग वर्णन के साथ ही सांख्य वेदान्त आदि मुख्य दार्शनिक सिद्धान्तो का विवेचन भी प्रस्तुत किया है। इस प्रकार उनका विविध योग वर्णन व्यापक आध्यात्मिक आधार पर अवलम्बित है।

सन्त काव्य मे योग के विकास मे बिहार के दरियासाहब भी उल्लेख्य हैं। दरियासाहब का योग वर्णन सुन्दरदास की भाँति व्यवस्थित तो नही है पर उनकी रचनाओ मे विशेष रूप से 'ब्रह्म प्रकाश' ग्रन्थ मे योग के तत्वो का अच्छा वर्णन प्राप्त होता है। दरियासाहब के अनुसार सब यौगिक क्रियाएँ योग के दो मुख्य प्रकारों मे अन्तर्निविष्ट हैं—पिपीलिका योग और विहगम योग।[9] पिपीलिका योग से उन्होने हठयोग का अभिप्राय बताया है और विहगम योग से ध्यान योग निर्दिष्ट किया है। हठयोग का

---

१ सुन्दर दर्शन पृ ५९ ६१।
,, पृ ६४ १४७।
३ ,, पृ ६८
४ सुन्दर दर्शन पृ ७ ९९
,, पृ ९७ १२
,, पृ १२७
७ ,, पृ ११९ १४
८ ,, पृ १४७ १४६
९ सत कवि दरिया पृ ९४
१० ,, पृ ११

पिपीलिका योग की अपेक्षा दरियासाहब ने विहंगम अथवा ध्यानयोग को श्रेष्ठ माना है।[1] विहंगम या ध्यान योग के द्वारा उन्होंने ब्रह्मानुभूति का उल्लेख किया भी है।[2] ध्यान योग के सम्बन्ध मे उन्होंने खेचरी भूचरी अगोचरी चाचरी और उनमुनी मुद्राओं की चर्चा की है[3] और इनमे उनमुनी की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हुए उसे महामुद्रा कहा है।[4] एक स्थान पर उन्होंने स्पष्टरूप से खेचरी भूचरी इत्यादि मुद्राओं का खंडन करके उनमनी मुद्रा धारण का प्रस्ताव किया है।[5]

हठयोग के प्रसग मे दरिया साहब ने नाडी चक्र कुण्डलिनी इत्यादि का वर्णन किया है। मूलाधार चक्र मे एक केन्द्र है जिससे बहत्तर हजार नाडियाँ निकलती हैं, इनमे तीन प्रधान हैं इडा पिंगला और सुषुम्ना।[6] इन्हें गंगा यमुना और सरस्वती भी कहा जाता है।[7] इडा मूलाधार से निकल कर मेरुदंड के वाम भाग से होती हुई सब चक्रो को भेद कर आज्ञाचक्र के दक्षिण भाग से आकर ब्रह्मरन्ध्र मे अन्य नाडियों से मिलकर वाम नासारन्ध्र मे प्रवेश करती है। पिंगला भी मूलाधार से निकल कर मेरुदंड के दक्षिण भाग से होते हुए सभी चक्रो का भेदन करके आज्ञाचक्र के वाम भाग से आकर ब्रह्मरन्ध्र मे अन्य नाडियो से मिलकर दक्षिण नासारन्ध्र मे प्रवेश करती है।[8] सुषुम्ना मूलाधार मे नाडियो के केन्द्र से आरम्भ होकर मेरुदंड के मध्य चलती है एवं सब चक्रों का भेदन करते हुए नासिका के ऊपर ब्रह्मरन्ध्र मे पहुचती है। सर्पिणी के आकार की कुण्डलिनी मूलाधार स्थित नाडी केन्द्र को पूर्णरूपेण ढँक कर सुषुप्त रहती है और उसकी पूछ सुषुम्ना के निचले छिद्र मे प्रविष्ट होने के कारण उक्त नाडी के मुख को

---

१ सन्त कवि दरिया पृ १ ४

२ बीहंगम चढि गगन अकासा। बइठि गगन चढि देखु तमासा ॥

—दरियासागर, पृ २२

३ सन्त कवि दरिया पृ १ ।

४ महा मुद्रा उनमुनि पेखे। अगनि भाति योगी तहं देखे ॥

—दरियासागर पृ २१।

५. खेचरि भूचरि तजै चाचरि, उनमुनि मुद्रा धारा।

दरिया तीनि मिल एक सघन भूमर झरि झरि धारा ॥

—दरिया साहब की शब्दावली पृ ४२।

६ सन्त कवि दरिया पृ ९२।

७ „ पृ ९१।

८. „ पृ ९३।

„ पृ ९४।

१ पृ ९५।

अवस्थ रहती है।[1] प्राणायाम मुद्रा आदि अनेक क्रियाओं से योगी कुण्डलिनी को जाग्रत करता है।[2] जब कुण्डलिनी जाग्रत होती है तो सहस्रदल कमल तक पहुंचने के लिए षट् चक्र का भेदन करती है। ब्रह्मरन्ध्र के तालुमूल में सहस्रदल कमल है जिसमें कुण्डलिनी का लय होता है।[4]

योग के उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त दरिया साहब ने सुरति[5] निरति[6] शब्द[7] अनहद[8] सर्वशून्य[9] अजपा[10] नादानुसंधान[11] त्रिकुटी या त्रिवेणी[12] इत्यादि की चर्चा भी की है। वस्तुतः दरिया साहब बिहारी का योग वर्णन साम्प्रदायिक योग के उन सब विषयों की चर्चा करता है जो कबीर के समय से निर्गुण संत काव्य के अंग रहे हैं।

साम्प्रदायिक योग के अतिरिक्त जिस योग की चर्चा निर्गुण काव्य में प्राप्त की गई है, उसे सुरति-शब्द योग कहते हैं। वह योग जिसके द्वारा सुरति एवं शब्द का संयोग सिद्ध होता है, शब्द-योग अथवा सुरति-शब्द योग कहलाता है।[13] सुरति शब्द योग की चर्चा प्रायः सब सन्त कवियों ने की है और इसको बड़ा महत्व प्रदान किया है। कबीर की रचनाओं में इस योग का वर्णन है।[14] परवर्ती संत काव्य में सुरति शब्द योग की भावना का और अधिक विकास हुआ। वस्तुतः संत कवियों के उपरान्त उनके धर्म सम्प्रदायों में सुरति शब्द योग को महत्व ही नहीं प्रदान किया गया अपितु इसे साम्प्रदायिक योग से भिन्न तत्वों का योग निर्दिष्ट किया गया। इस प्रबन्ध के

---

१ सन्त कवि दरिया पृ ९५।
२ संत कवि दरिया पृ ९५।
३ " पृ १ ।
४ पृ ११।
५. दरिया साहब की शब्दावली पृ १६।
६ दरिया सागर, पृ ४ ।
७. दरियासागर पृ ८।
८ दरिया साहब की शब्दावली पृ ४८।
९. पृ ४१।
१० पृ ४१।
११ पृ २९।
१२. दरियासागर, पृ ३।
१३ हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय पृ २२९।
१४ कबीर की विचारधारा पृ २०७।

लेखक का विभिन्न पन्थानुयायियों से विचारविनिमय उसके इस कथन की पुष्टि करता है।

उपर्युक्त पंक्तियों में सन्त काव्य में योग के विकास का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि संत काव्य में योग के मुख्य विषयों का वर्णन प्राप्त होता है। सन्त काव्य में अष्टांग योग नाड़ी पवन चक्र कुण्डलिनी इत्यादि विषयों का पुनःपुनः उल्लेख हुआ है एवं चतुर्विध योग की चर्चा की गई है। निर्गुण काव्य का योग वर्णन शास्त्रीय एवं व्यवस्थित पद्धति पर कम है। वस्तुतः संत सुन्दरदास ही ऐसे साधक हैं जिन्होंने योग का वर्णन शास्त्रीय पद्धति पर व्यवस्थित एवं सुस्पष्ट ढंग से किया है। कबीर आदि सन्त कवियों ने योग के तत्वों का उल्लेख अपनी साधना के अङ्ग रूप में किया है जिससे उनकी सम्यक प्रतीति नहीं हो पाई है। पर इसका यह अभिप्राय नहीं है कि उनकी योग सम्बन्धी युक्तियाँ विषय से सम्बद्ध नहीं हैं। कबीर आदि का योग वर्णन रहस्यात्मक होने पर भी स्वविषय से निष्णात है। इस सम्बन्ध में दो मत नहीं हैं।

परिशिष्ट

सहायक ग्रन्थ

संस्कृत

१ बृहदारण्यकोपनिषद्
२ छान्दोग्योपनिषद्
३ मुण्डकोपनिषद्
४ श्वेताश्वतरोपनिषद्
५ कठोपनिषद्
६ माण्डूक्योपनिषद्
७ ऐतरेयोपनिषद्
८ ईशावास्योपनिषद्
९ तैत्तिरीयोपनिषद्
१० केनोपनिषद्
११ प्रश्नोपनिषद्
१२ श्रीमद्भगवद्गीता
१३ वेदान्त दर्शन
१४ पातञ्जल योग दर्शन
१५ सांख्यकारिका
१६ भक्ति सूत्र (नारद)
१७ अवधूत गीता
१८ सिद्धसिद्धान्त पद्धति
१९ सिद्ध सिद्धान्त संग्रह
२० गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह
२१ गोरक्ष पद्धति
२२ योग मार्तण्ड
२३ अमरौघ प्रबोध
२४ योग बीज
२५ योग विषय
२६ शिव संहिता
२७ हठयोग प्रदीपिका
२८ हठयोग संहिता

सन्तों की बानियाँ

१ कबीर ग्रन्थावली
२ संत कबीर
३ बीजक
४ दादूदयाल की बानी (दो भाग)
५ चरनदास की बानी (दो भाग)
६ धर्मदास की शब्दावली
७ सुन्दर विलास
८ सुन्दर ग्रन्थावली (दो खण्ड)
९ दरियासागर
१० दरिया साहब के चुने हुए पद्य
११ संत बानी संग्रह (दो भाग)
१२ संत सुधा सार

दर्शन

१ भारतीय दर्शन (उपाध्याय)
२ भारतीय दर्शन (मिश्र)
३ दर्शन संग्रह (दीवानचन्द)
४ भारतीय दर्शन परिचय (हरिमोहन)
५ तत्त्व कौमुदी प्रभा (आद्याप्रसाद)
६ गीता रहस्य (तिलक)

सम्पादित

१ सिद्ध सिद्धान्त पद्धति ऐण्ड अदर वर्क्स आफ नाथ योगीज
२ रामानन्द की हिन्दी रचनाएं
३ नाथ सिद्धों की बानियाँ
४ गोरखबानी

आलोचना

१ नाथ-सम्प्रदाय
२ कबीर
३ मध्यकालीन धर्म साधना
४ हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय
५ कबीर की विचारधारा
६ [illegible] दर्शन
७. संत कवि दरिया
८ सूफीमत साधना और साहित्य
९. हिन्दी सन्त साहित्य
१० हिन्दी साहित्य की भूमिका

पत्र पत्रिकाएँ

१ कल्याण—योगांक
२ कल्याण—साधनांक
३ [illegible]—सन्त साहित्य विशेषांक
४ साहित्य संदेश—[illegible] साहित्य विशेषांक